योगविद्या

वर्ष 2 अंक 7
जुलाई 2013
सदस्यता डाकखर्च – रु 50

स्वर्ण जयन्ती

बिहार योग विद्यालय
के 50 वर्ष

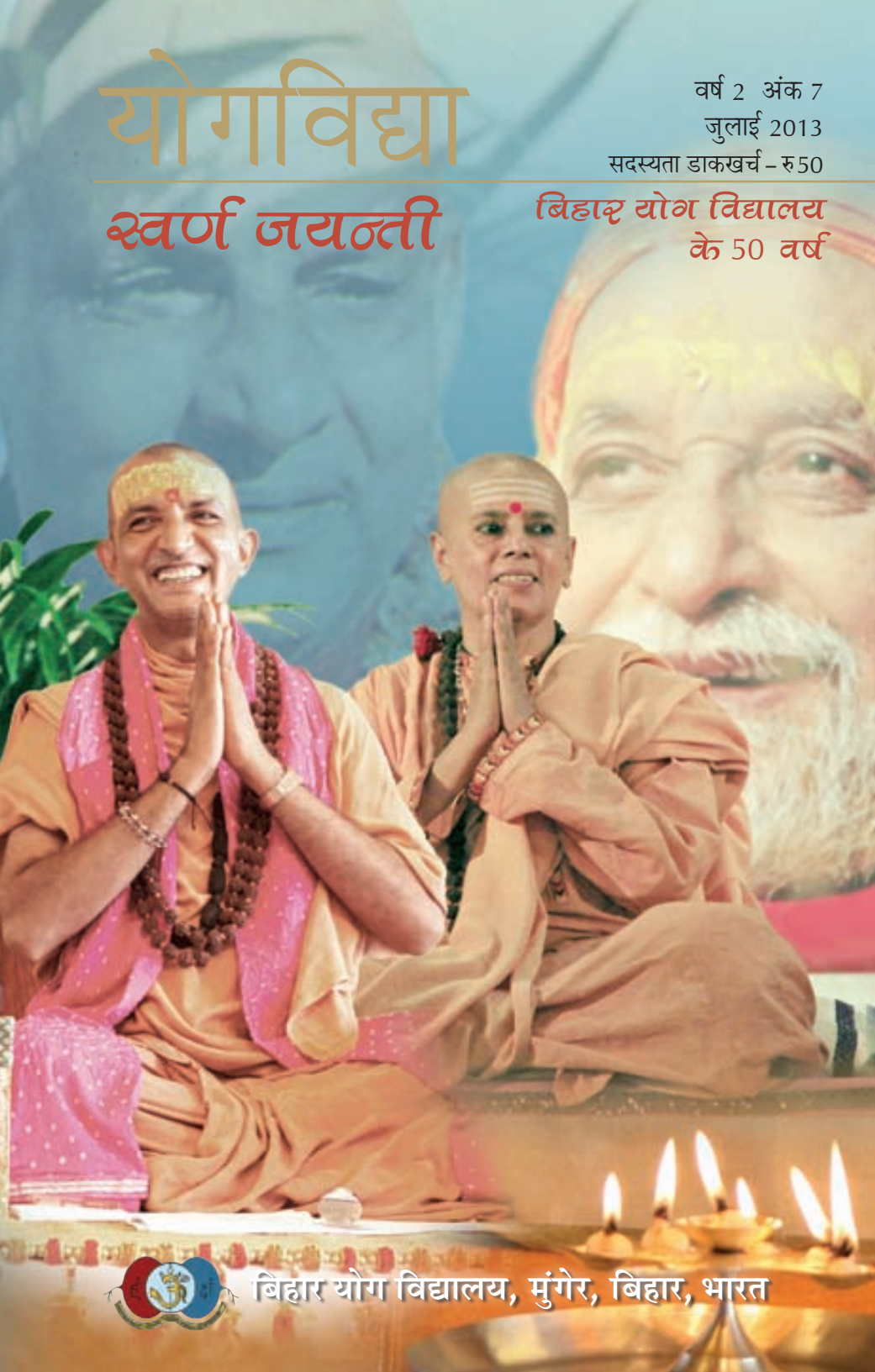

बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार, भारत

हरि ॐ

योग विद्या का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य लाभ, आनन्द और प्रकाश प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए किया जाता है। इसमें बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान के क्रियाकलापों की जानकारियाँ प्रकाशित की जाती हैं।

सम्पादक – स्वामी शक्तिमित्रानन्द सरस्वती

योग विद्या मासिक पत्रिका है। देर से सदस्यता ग्रहण करने पर भी उस वर्ष के जनवरी से दिसम्बर तक के सभी अंक भेजे जाते हैं।

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, 811201, बिहार, द्वारा प्रकाशित।

थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, फरीदाबाद, 121007, हरियाणा में मुद्रित।

© Bihar School of Yoga 2013

पत्रिका की सदस्यता एक वर्ष के लिए पंजीकृत की जाती है। कृपया अपने आवेदन अथवा अन्य पत्राचार निम्नलिखित पते पर करें –

बिहार योग विद्यालय
गंगा दर्शन,
फोर्ट, मुंगेर, 811201
बिहार

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु स्वयं का पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।

कवर फोटो : श्री स्वामी शिवानन्द, श्री स्वामी सत्यानन्द, स्वामी निरंजनानन्द, स्वामी सत्यसंगानन्द, गुरु पूर्णिमा

अन्दर के रंगीन फोटो : 1: अमेरिका, 1982; 2: ग्रीस, 1982; 3: रिखिया, 1991; 4: रिखिया, 1998; 5: बद्रीनाथ, 2002; 6: रिखिया, 2003; 7: रिखिया, 2007; 8: रिखिया, 2008;

आध्यात्मिक मार्गदर्शन

गुरु का ध्यान

गुरु पर ध्यान शाश्वत सुख और आनन्द के साम्राज्य की कुंजी है। यह ऐसा राजमार्ग है जो शिष्य को दिव्य चेतना के लक्ष्य तक सीधे पहुँचा देता है। गुरु पर निरन्तर ध्यान करने से शिष्य का मन शान्त होता है और उसकी अन्तर्प्रज्ञा जाग्रत होती है। जब तक शिष्य गुरु की शरण में है तब तक उसका मन किसी भी चीज से विचलित नहीं हो सकता। सभी द्वन्द्वों, संशयों और शंकाओं का स्वयमेव समाधान हो जाता है।

गुरु के चरण-कमल दैवी कृपा के माध्यम हैं। जब शिष्य उन पर ध्यान करता है तब वह सचमुच शाश्वत आनन्द में निवास करता है। अगर आप अपने मन को विषयों से हटाकर अपने गुरु के चरण-कमलों पर लगा सकें, तो आपके सभी दु:ख और क्लेश स्वत: विलीन हो जाएँगे।

– श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर-811201, बिहार के लिए स्वामी ज्ञानभिक्षु सरस्वती द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित

मुद्रक – थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, 18/35 माइलस्टोन, दिल्ली मथुरा रोड, फरीदाबाद-121007, हरियाणा

स्वामित्व – बिहार योग विद्यालय **सम्पादक** – स्वामी शक्तिमित्रानन्द सरस्वती

योगविद्या

वर्ष 2 अंक 7 • जुलाई 2013
(प्रकाशन का 51 वाँ वर्ष)

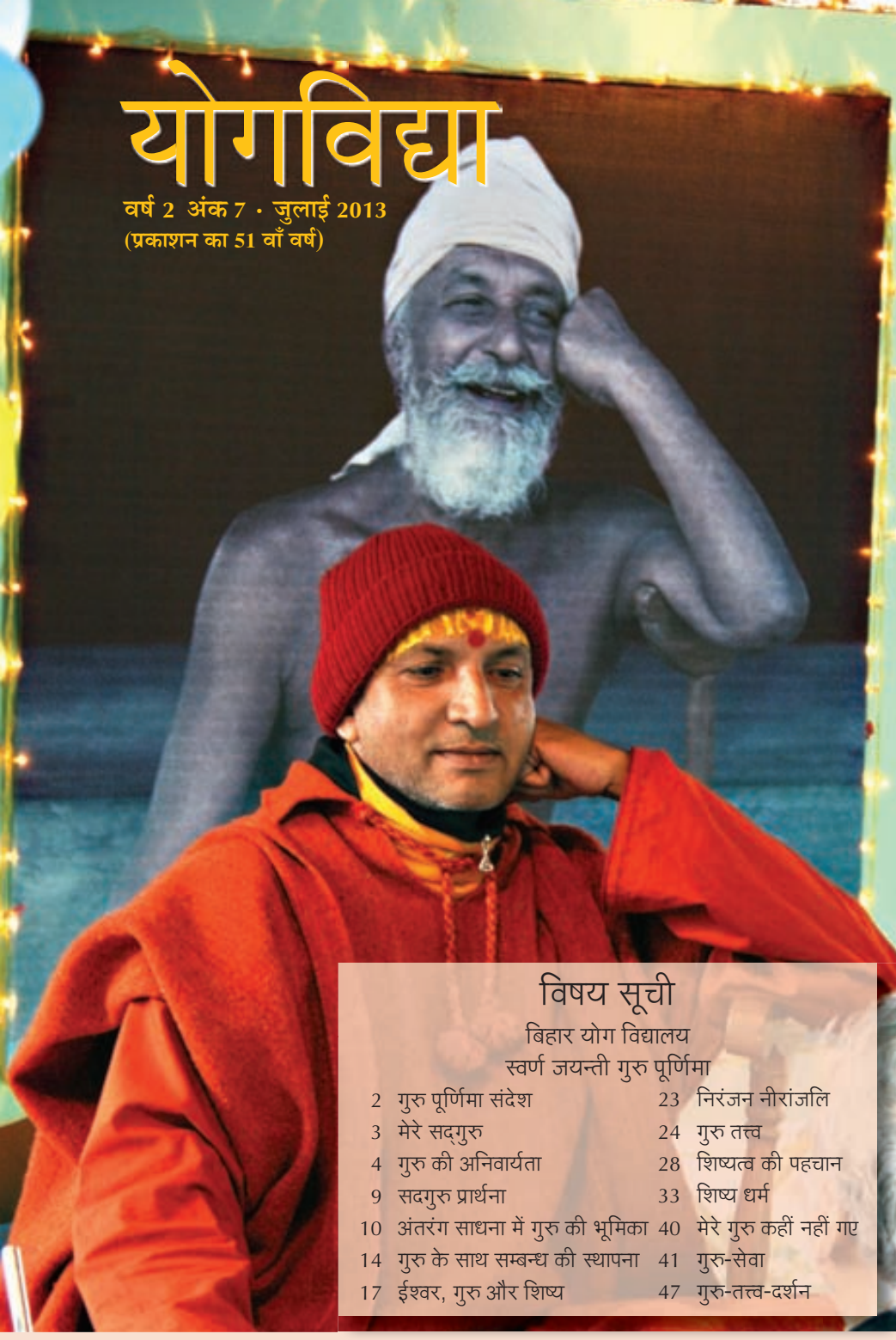

विषय सूची

बिहार योग विद्यालय
स्वर्ण जयन्ती गुरु पूर्णिमा

2 गुरु पूर्णिमा संदेश
3 मेरे सद्गुरु
4 गुरु की अनिवार्यता
9 सदगुरु प्रार्थना
10 अंतरंग साधना में गुरु की भूमिका
14 गुरु के साथ सम्बन्ध की स्थापना
17 ईश्वर, गुरु और शिष्य
23 निरंजन नीरांजलि
24 गुरु तत्त्व
28 शिष्यत्व की पहचान
33 शिष्य धर्म
40 मेरे गुरु कहीं नहीं गए
41 गुरु-सेवा
47 गुरु-तत्त्व-दर्शन

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

गुरु पूर्णिमा संदेश

आषाढ़-पूर्णिमा का दिन अति पावन एवं मांगलिक गुरु-पूर्णिमा दिवस है। गुरु-पूजा दिवस के रूप में यह दिन एक सच्चे साधक के लिये शुद्ध आनन्द का दिन होता है। प्रत्येक साधक उत्सुकतापूर्वक एवं भक्ति-भाव से इस पावन दिवस की प्रतीक्षा करता है और इस दिन के आने पर वह भाव-विह्वल होकर अपने गुरु को श्रद्धा-सुमन अर्पित करता है। गुरु स्वयं ब्रह्म हैं, साक्षात् ईश्वर हैं। वे ही आसक्ति की जंजीर को तोड़कर साधक को संसार के बन्धन से मुक्त करते हैं।

सभी साधकों के लिए गुरु-पूर्णिमा आध्यात्मिक साधना का एक नया अध्याय है, उस दिशा में आगे बढ़ने का एक कदम है, साधना-पथ पर नयी ऊर्जा लेकर अग्रसर होने का दृढ़ संकल्प है। हमें इस शुभ दिन को अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों का लेखा-जोखा करने के एक सुनहरे अवसर के रूप में लेना चाहिए।

इस महान् दिवस के महत्त्व को ठीक से समझिये। इसी दिन वर्षाऋतु का प्रारम्भ होता है। ग्रीष्मऋतु में अवशोषित जल आकाश में बादलों के रूप में मण्डराने लगता है और पर्याप्त वृष्टि होने लगती है। सर्वत्र नवजीवन का संचार होने लगता है। इसी प्रकार आप भी उन सभी दर्शनों एवं सिद्धान्तों को, जिन्हें आपने गहन अध्ययन द्वारा आत्मसात् किया है, अपने व्यावहारिक जीवन में अभिव्यक्त करना आरम्भ कीजिये। इसी दिन से अपने अन्दर आध्यात्मिकता की एक नयी तरंग उत्पन्न कीजिये। आपने बहुत कुछ पढ़ा, सुना, देखा एवं सीखा है। अब अपनी साधना द्वारा उन बातों को सार्वभौम प्रेम, सतत् सेवा तथा समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित प्रभु की अनवरत पूजा एवं प्रार्थना में रूपान्तरित कीजिये।

सम्पूर्ण जगत् में शान्ति एवं सद्भाव बना रहे! आप सब पर गुरु के शुभाशीष की वर्षा हो! गुरु-कृपा से आपका अध्यात्म-मार्ग प्रशस्त हो!

– स्वामी शिवानन्द सरस्वती

मेरे सद्गुरु

श्री स्वामी विश्वानन्द जी को नमन
जो मेरे सद्गुरु थे
जो साक्षात् ब्रह्म ही थे
जिन्होंने मुझे 'तत्त्वमसि' में दीक्षित किया।
कितने कृपालु थे वे
जिन्होंने मेरे वस्त्रों को काषाय रंग दिया,
काली कमली वाले क्षेत्र से
मेरे लिए भिक्षा प्राप्त की,
मेरे साथ दिव्य गीत गाये,
चरणदास धर्मशाला के बरामदे में
मेरे साथ भूमि पर शयन किया
और मुझे आध्यात्मिक शिक्षा दी।
श्री स्वामी विश्वानन्द की जय!
उनकी कृपा हम सबको मिले!

– स्वामी शिवानन्द सरस्वती

गुरु की अनिवार्यता

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

गुरु कृपा द्वारा ही परिपूर्ण ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। गुरु ही आध्यात्मिक मार्ग की बाधाओं का निवारण करता है और शिष्य को पतन के मार्ग पर जाने से रोकता है। गुरु ही साक्षात् ब्रह्म है, वस्तुत: वही ईश्वर है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है, 'हे अर्जुन! शिष्य के समान गुरु के सम्मुख प्रणाम कर, प्रश्न कर और सेवा द्वारा सत्य को जानने का प्रयत्न कर। वे तत्त्वदर्शी तुझे उस परम ज्ञान का उपदेश देंगे।'

साधारण लौकिक विज्ञान की प्राप्ति के लिए भी गुरु की आवश्यकता है। क्या गणित, भूगोल, इतिहास या किसी भी अन्य विद्या को गुरु के बिना प्राप्त किया जा सकता है? प्रत्येक कला की प्राप्ति के लिए जब व्यक्ति को शिक्षक की आवश्यकता रहती है, तब सत्य का उपदेश प्राप्त करने के लिए गुरु की अनिवार्यता पर प्रश्नचिन्ह क्यों? क्या याद नहीं कि श्री राम, कृष्ण, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और संत एकनाथ के भी गुरु थे और उनकी गुरुभक्ति सर्वोच्च कोटि की थी?

आध्यात्मिक पथ एम.ए. की थीसिस लिखने जैसा नहीं है। यह तो एक अलग ही राह है। इसमें प्रतिक्षण गुरु की आवश्यकता पड़ती है। इस पथ पर बहुत-सी बाधायें आती हैं। गुरु साधक को सुरक्षित ढंग से रास्ता दिखलाते हैं तथा सभी प्रकार की बाधाओं को दूर करते हैं। वे आपकी शंकाओं का समाधान करते हैं और दिव्य-प्रेरणा से स्फुरित रखते है। छुरे की धार के समान इस मार्ग पर गुरु कृपा ही

आपको आनन्दपूर्वक आगे ले जा सकती है। गुरु का ध्यान कीजिए, गुरु चरणों की पूजा कीजिए और उनके वचनों को मन्त्रों के समान जानिए। उनकी कृपा मुक्ति का द्वार खोलती है।

चूँकि मनुष्य असीम अज्ञान के अंधकार में डूबा है, इसलिए बिना गुरु की सहायता के उसके लिए आत्म-साक्षात्कार कर पाना मुश्किल है। जैसे मनुष्य स्वयं अपनी पीठ नहीं देख सकता, वैसे ही वह अपनी त्रुटियों को भी नहीं देख सकता। अपने अवगुणों तथा त्रुटियों को दूर करने के लिए उसे एक गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए। उसे अपने गुरु के समक्ष अपनी सभी कमियों तथा कमजोरियों को प्रकट कर देना चाहिए। उसे अपने गुरु को यह अधिकार देना चाहिए कि वे उसे कष्टों की भट्ठी में विभिन्न तरीकों से परख सकें, जिससे शिष्य पर उनका पूर्ण विश्वास जम जाए। यदि शिष्य की भावना सच्ची है और गुरु पर उसका अटूट विश्वास है, तो जिस प्रकार जल का प्रवाह उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर होता है, उसी प्रकार गुरु की कृपा शिष्य की ओर बहने लगती है।

गुरु भक्ति

अपने गुरु के प्रति प्रगाढ़ भक्ति तथा उनकी शिक्षाओं का पूर्ण श्रद्धा के साथ अनुसरण करना एक सच्चे शिष्य के मुख्य गुण हैं। इसी श्रद्धा तथा गुरु भक्ति के कारण अतिशीघ्र आध्यात्मिक उन्नति तथा साधना फलित होती है। श्रद्धा वह शक्ति है, जो साधक को पूर्णता प्राप्ति की राह पर अग्रसर रखती है। यह उसे परीक्षाओं, प्रलोभनों तथा संकट की घड़ियों में सहारा देती है तथा अलंघनीय दिखलाई देने वाली बाधाओं को पार करने में सहायता करती है। गुरु भक्ति से गुरु की कृपा और अन्ततः प्रकाश तथा आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए अपने गुरुदेव में श्रद्धा तथा भक्ति को सदा जाग्रत रखिए।

अपने गुरु के प्रति सच्ची स्वामीभक्ति व्यक्त करने का सबसे अच्छा तरीका है, उनके द्वारा बताये गये मार्ग के आधार पर जीना। उन्हें अपना आदर्श मानना। उस आदर्श के अनुसार अपने जीवन को ढालने के लिए संघर्ष करना। यह आपकी सबसे प्रभावशाली गुरु-पूजा तथा अति प्रसन्नता देने वाली गुरु-दक्षिणा होगी। व्यक्तिगत अहं, पूर्व निर्धारित धारणाओं, पसन्द-नापसन्द के विचारों, पक्षपात तथा व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग कर देना चाहिए। ये सब गुरु के उपदेशों तथा निर्देशों का पालन करने के मार्ग में बाधा खड़ी करते हैं। जब तक इस निम्न कोटि के अहंभाव तथा हठी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति को हटाया नहीं जायेगा, सत्संग तथा सदोपदेश से कोई लाभ मिलना मुश्किल है। जब आप अपने को अनुशासित करना सीखते हैं, अपने स्वार्थ को प्रधानता नहीं देते तथा अपने आपको पूर्ण रूप से गुरु को समर्पित कर देते हैं, तब गुरु-कृपा भी प्रवाहित होने लगती है। नियमित रूप से आत्म-निरीक्षण तथा

आत्म-विश्लेषण कीजिए। अपने गुरु के प्रति अटूट निष्ठा रखिए। सभी प्रकार की संकीर्णताओं का त्याग कीजिए तथा सभी से मित्रता कीजिए। हर वस्तु में अच्छाई देखने का प्रयास कीजिए। गुरु के प्रति प्रेम का अर्थ है – सम्पूर्ण जगत् के लिये प्रेम उत्पन्न करना। आपको सब में उन्हीं के दर्शन करने चाहिए। उन्हें सब जगह उपस्थित मानकर सभी जीवों की भावपूर्वक सेवा कीजिए; ऐसी सेवा आपको प्रेम तथा सहिष्णुता का, *'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु: गुरुर्देवो महेश्वर:, गुरु: साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नम:'* के सही अर्थ का बोध कराएगी।

जो व्यक्ति बारह वर्ष तक गुरु के मार्गदर्शन में रहता है, जो गुरु के अनुदेशों का बिना किसी शंका के पालन करता है, जो गुरु को ब्रह्म मानते हुए स्वामीभक्ति से गुरु की सेवा करता है, वह आध्यात्मिक पथ पर अवश्य उन्नति करता है। आध्यात्मिक उन्नति का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यदि आप एक आदर्श गुरु खोजने में असमर्थ हैं, तो एक ऐसे मनुष्य को भी अपना गुरु बना सकते हैं, जो कुछ वर्षों से साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर हो, जो ईमानदार तथा सरल प्रकृति का हो, नि:स्वार्थ हो, अभिमानरहित, अहंकाररहित हो, जिसका चरित्र अच्छा हो और जिसे शास्त्रों का ज्ञान हो। उसके साथ कुछ समय तक रहिए। सावधानी से निरीक्षण कीजिए। यदि आप आश्वस्त हो जाते हैं, तो उन्हें अपना गुरु बना लीजिए और उनके आदेशों का कड़ाई से पालन कीजिए। एक बार उन्हें अपना गुरु बना लेने पर उन पर शंका नहीं करनी चाहिए।

आपमें गुरु से मिलने तथा उनसे दीक्षा लेने की तीव्र इच्छा होनी चाहिए। तब भगवान स्वयं आपको आपके गुरु से मिला देंगे। साक्षात्कार प्राप्त योगियों द्वारा लिखी गई पुस्तकें आपकी बहुत सहायता करेंगी। बार-बार गुरु को बदलना भी नहीं। इससे आप व्याकुल हो जायेंगे। आपके मन में अनेक प्रकार के द्वन्द्वात्मक विचार आयेंगे। हर एक की अपनी एक साधना-पद्धति होती है। यदि आप अपनी साधना पद्धति में बार-बार परिवर्तन करेंगे, तो कोई उन्नति नहीं होगी। एक पद्धति का पालन कीजिए, आपका शीघ्र उत्थान होगा। आत्म-साक्षात्कार के लिए गुरु आदर्श के प्रति एकचित्त भक्ति, एक प्रकार की साधना और पूरे दिल से उसको व्यवहार में लाना अति आवश्यक है।

अपने गुरु की पूजा कीजिए

साधक के जीवन में सन्तों की पूजा को एक आवश्यक साधना के रूप में स्वीकारा गया है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि साधक में अपने गुरु के लिए वैसी ही भक्ति होनी चाहिए जैसी ईश्वर के लिए होती है–

यस्य देवे पराभक्ति: यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:॥

ऐसा ही शिष्य उपनिषदों के अर्थ को समझ सकता और सत्य को जान सकता है। निरंतर अपने गुरु का ध्यान करने से शिष्य बुराई से दूर रहकर, सही पथ पर चलता है तथा अपने गुरु के साँचे में अपने को ढालता है।

गुरु से ज्ञान के सागर को प्राप्त करने के लिए शिष्य को पहले अपने आपको तैयार करना होगा। सादा जीवन, सादा भोजन, सादा वस्त्र, इन्द्रियजनित सुखों से विरक्ति, सत्य का पालन, प्रेम भरा हृदय, ब्रह्मचर्य, सहनशक्ति, स्व-नियंत्रण, इन सब का विकास करना होगा।

ईश्वर के प्रति भक्ति उसी के हृदय में प्रस्फुटित होती है, जिसने अपने पूर्व जन्मों में फल की आशा, अहंकार या कर्तापन के भाव से रहित होकर धर्मपरायण कार्य किये हों। जिनमें इस जन्म में अधिक धर्मनिष्ठा अथवा धार्मिक रुझान नहीं है, उन्हें जप, कीर्तन और ध्यान करना चाहिए, धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए। उन्हें महात्माओं के सान्निध्य में रहना चाहिए। उनमें अच्छे धार्मिक संस्कारों का विकास होगा। अगले जन्म के लिए उनके पास यह एक बहुमूल्य पूँजी होगी। वे अगले जन्म में कम उम्र में ही योग का अभ्यास शुरू कर देंगे।

यह कहना बहुत कठिन है कि गुरु अथवा ईश्वर किस रूप में आपको दीक्षित करने के लिए प्रकट होंगे। हो सकता है वे एक कोढ़ी के रूप में आएँ, जैसे श्री हनुमान जी आए, या एक अछूत के रूप में, जैसे, भगवान श्रीकृष्ण आए अथवा भगवान शिव की भाँति एक अश्वपालक के रूप में आएँ। साधक को ईश्वर द्वारा धारण किये गए विभिन्न रूपों को पहचानने के लिए बहुत सचेत तथा सावधान रहना चाहिए।

गुरु सेवा की महिमा

आध्यात्मिक पथ पर पहला कदम है, नि:स्वार्थ भाव से गुरु की सेवा। गुरु-सेवा अमर आनन्द की अट्टालिका की नींव है। विवेक, वैराग्य, जिज्ञासा इसके स्तम्भ हैं। ऊपर की इमारत अनन्त आनन्द है। गुरु-सेवा ईश्वर की पूजा है।

गुरु-सेवा तथा गुरु के प्रति आत्मसमर्पण हृदय के द्वार खोलता है, चेतना का विस्तार करता है तथा आत्मा को गहराई प्रदान करता है। जो आत्म-नियंत्रण तथा आत्म-भाव के साथ गुरु-सेवा करता है, वही सच्चा शिष्य है। गुरु-सेवा द्वारा अपने सभी कार्य-कलापों का आध्यात्मीकरण कीजिए। गुरु-सेवा में आप जितनी अधिक शक्ति लगायेंगे, उतनी ही अधिक दैविक शक्ति का संचार आपके भीतर होगा।

गुरु-कृपा ही शिष्य को लालसा, क्रोध तथा लोभ से मुक्ति दिला सकती है। गुरु सेवा जीवन का नमक है। गुरु भक्ति जीवन का आधार है।

ध्यान का रहस्य

गुरु पर मन को स्थिर करना और फिर निरन्तर उनकी सेवा में संलग्न रहना ही ध्यान है। यही जीवन का रहस्य है। गुरु-सेवा के बिना सीधे ध्यान लगाने से कोई लाभ नहीं। गुरु-सेवा तथा गुरु के चरण कमलों में आत्मसमर्पण के बिना गहन ध्यान संभव नहीं है। सद्गुरु के पावन चरण कमलों पर ध्यान करने के लिए सूक्ष्म, निर्मल, एकाग्र, शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता होती है। यदि आप ईमानदारी से उनकी सेवा करेंगे, तो आपकी बुद्धि शुद्ध हो जायेगी, जो ध्यान में आपको सहायता प्रदान करेगी। सद्गुरु के चरण कमलों पर ध्यान करने से लौकिक विचार समाप्त हो जाते हैं, सत्त्व की वृद्धि होती है, अच्छे स्वास्थ्य तथा दिव्यता की प्राप्ति होती है, दु:खों, क्लेशों तथा पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है।

एकान्तवास, तप, आत्म-नियंत्रण, धैर्य, ईर्ष्या का परित्याग, नम्रता, मिताहार, सादगी, ईमानदारी, उदारता, गुरु के रूप पर ध्यान करने के लिए सहायक तत्त्व हैं। यदि मन निरन्तर गुरु के चरण कमलों पर ही टिका रहता है, तो जगत् एक स्वप्न अथवा तिनके की भाँति प्रतीत होता है। गुरु के रूप अथवा चित्र पर ध्यान ही ध्यान का रहस्य है। अमरत्व की प्राप्ति तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति और अन्तत: ईश्वर साक्षात्कार केवल गुरु पर ध्यान द्वारा संभव है।

गुरु के चरणकमलों पर ध्यान की अवधि को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। जो लोग गुरु के चरण कमलों पर ध्यान नहीं करते, वे इस जन्म में साक्षात्कार नहीं कर सकते। वर्षों पवित्र स्थलों की यात्रा करने की अपेक्षा गुरु के रूप पर एक घण्टा ध्यान करना हजार गुना बेहतर है। गुरु-सेवा आपका मार्ग है, गुरु-प्रेम आपका आदर्श है तथा उनकी कृपा आपके पथ का प्रकाश है। गुरु आशीष की कुछ बूँदें एक शिष्य के लिए संसार की सबसे बड़ी संपत्ति हैं।

सद्गुरु प्रार्थना

हे युग, हे युग आधार,
हे युग विभूति वैभव ललाम
जिन चरणों को युग चूम रहा,
उन पर मेरा शतश: प्रणाम ॥

जिन पद ने दलित किये पातक,
जिन पर नतमस्तक विश्व अखिल
उन पर कैसे रख दूँ गुरुवर,
अपना कलुषित मानस पंकिल ॥

अंजलि में हैं दो फूल तथा,
नयनों में खारे नीर प्रभो ।
जब तक न इन्हें अपनाते हो,
तब तक मैं व्यथित अधीर प्रभो ॥

– स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

अंतरंग साधना में गुरु की भूमिका

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

अध्यात्म-मार्ग में दो बातें प्रमुख हैं, एक है साधन, और दूसरा साध्य। अनेकों उपासक गलती से साधन को ही साध्य मान बैठते हैं। पूजा या जप, जिसकी महत्ता शास्त्रों में बताई गई है, वे साधन ही हैं, साध्य नहीं हो सकते। साध्य तो केवल आत्म-दर्शन है, आत्मानुभूति है। जिस समय आत्म-दर्शन होने लगता है, सभी साधनायें स्वत: समाप्त हो जाती हैं। शास्त्रों में जितनी भी साधनायें बतलाई गई हैं, सब-की-सब एक स्थल पर आकर स्वयं समाप्त हो जाती हैं। ये सभी साधनायें बहिरंग हैं। इसके बाद एक दूसरी ही साधना प्रारम्भ होती है।

इन्द्रियों के द्वारा हम जिन साधनाओं को करते हैं, वे सभी बहिरंग हैं, चाहे वह राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग या कर्मयोग ही क्यों न हो। वैसे तो शास्त्रों में लिखा है कि यम-नियम, आसन, प्राणायाम, बहिरंग-साधनाएँ हैं, और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि अंतरंग-साधनाएँ। एक अन्य जगह लिखा है कि अपरा-भक्ति बहिरंग साधन है और पराभक्ति अंतरंग। वैसे ही कर्म बहिरंग और अनासक्ति अंतरंग साधन है। सत्संग बहिरंग साधन है तथा चिंतन-मनन अंतरंग। पर यदि अनुभव के आधार पर देखा जाए तो एक स्थिति में पहुँचने पर उपरोक्त सब-के-सब बहिरंग हो जाते हैं। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की दृष्टि में भले ही आसन, प्राणायाम, यम और नियम बहिरंग साधन हैं। इन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली साधनायें बहिरंग हैं, और इनकी अपेक्षा मन के माध्यम से की जाने वाली साधनायें अंतरंग। लेकिन यदि बुद्धि के माध्यम से की जाने वाली साधना से तुलना की जाए, तो मन के द्वारा की जाने वाली साधनायें बहिरंग जान पड़ेगीं और बुद्धि से की जाने वाली अंतरंग। अंत में एक स्थिति ऐसी आती है, जब इन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली तपस्या, मन के द्वारा किया जाने वाला ध्यान, बुद्धि के द्वारा किया जाने वाला आत्म-निर्णय, और चित्त के द्वारा देखे जाने वाले प्राचीन संस्कार आदि सब-के-सब एक जगह पर पहुँचकर ठप्प हो जाते हैं।

आंतरिक मार्ग

कल्पना कीजिये कि आप किसी अंधेरी सुरंग से गुजर रहे हैं। कुछ दूर तक तो बाहर का प्रकाश आपकी सहायता करता है, जिसके आधार पर आप आगे बढ़ते हैं। कुछ और आगे बढ़ने के बाद अंधकार और भी गाढ़ा हो जाता है। पर आप रास्ता सीधा होने के कारण कुछ और आगे बढ़ते हैं। परन्तु एक ऐसा भी स्थल आता है, जहाँ पहुँचने पर लगता है कि सामने का रास्ता एक दीवार से बंद है। अगल-बगल चारों ओर मीलों अंधेरा रास्ता है, जिसका कोई पता नहीं। यहाँ यदि सामने का रास्ता स्वयं

खुल जाय तो संभव है कि आप आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा क्या उपाय है? बस यही स्थिति ध्यान के मार्ग की है। यद्यपि तीन अक्षरों के योग से बना 'समाधि' शब्द बड़ा सरल मालूम पड़ता है, पर यह स्वयं गम्य है ही नहीं, भले ही पुस्तकों में लिखा रहे कि समाधि प्रत्येक मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। एक खास स्थिति तक या यूँ कहे कि सूक्ष्म की स्थिति तक आप स्वयं जा सकते हैं, यहाँ तक कि कारण-शरीर में भी कुछ हद तक बढ़ सकते हैं। चेतना के भी कुछ स्तरों को भेद सकते हैं, पर एक ऐसी स्थिति आती है, जहाँ आप स्वयं शून्य हो जाते हैं, आप बुत बनकर बैठ जाते हैं। आपको पता ही नहीं रहता कि आप कौन हैं, और कहाँ जाना चाहते हैं। यहाँ से आगे साधक तब तक नहीं बढ़ सकता है, जब तक कि उसे बढ़ाने वाला कोई गुरु न हो।

यहाँ प्रश्न उठता है कि अध्यात्म की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये किसका सहारा लिया जाय। कुछ लोगों की राय है कि गुरु ही एकमात्र आलम्बन है, पर कुछ के अनुसार स्वयं भगवान ही आलम्बन है। कुछ ऐसा भी मानते हैं कि बिना इस पर सोचे केवल साधना करते जाना चाहिये।

केवल किसी को गुरु बना लेने मात्र से ही वह श्रेष्ठ आलम्बन हो जाय, ऐसी बात नहीं है। ध्यान की उस स्थिति में जहाँ व्यक्ति का जीव-भाव नहीं रहता, उसकी व्यक्तिगत चेतना नहीं रहती, उसको आगे गुरु ही ले चलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब साधक की चेतना अंतर्लोकों में गमन करती है तो वहाँ एक स्थल पर वह रुक जाती है। वहाँ से उसे गुरु का सूक्ष्मरूप ही आगे ले जाता है। गुरु में इतनी शक्ति रहनी चाहिये कि वे स्थूल रूप में तो रहें, पर सूक्ष्म रूप में भी रह सकें। जिस गुरु का सूक्ष्मरूप प्रबल होगा, वही साधक को सूक्ष्म अवस्था में आगे ले जा सकता है।

गुरु के सूक्ष्म निर्देश

हमारे यहाँ 'गुरु' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। एक तो वह जिससे हम मंत्र-दीक्षा लेते हैं, और दूसरा, अंधकार का निवारण करने वाला। गुरु वह है जो हमारी अध्यात्म-साधना में पथ-प्रदर्शक का काम करता है। हमारे शरीर के अन्दर एक प्रमुख चक्र है जिसे हम 'आज्ञा चक्र' कहते हैं। कुछ लोग इसे गुरु-चक्र भी कहते हैं। इसका स्थान भ्रूमध्य के पीछे जहाँ सुषुम्ना समाप्त होती है, वहीं है। इसकी एक अपनी विशेषता है। साधना के सिलसिले में ज्यों-ज्यों साधक की बाह्य चेतना अचेत होती जाती है, उसी अनुपात में यह चक्र जगता जाता है। एक ओर मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियों का लोप होते जाता है, तथा दूसरी ओर इष्ट-देव का चित्र स्पष्ट होता जाता है और इसके साथ-ही-साथ आज्ञा-चक्र जाग्रत होता जाता है। ज्यों ही इन्द्रियाँ बहिर्मुख हुईं कि वह अन्दर गया। ध्यान की अवस्था में उन्हीं का आज्ञा चक्र जाग्रत होता है, जिनकी इन्द्रियाँ कम चंचल हैं और मन एक हद तक शांत तथा अनासक्त है। कुछ ऐसे भी हैं जिनका आज्ञा चक्र ध्यान के बाहर भी जाग्रत रहता है, पर ऐसे व्यक्ति विरले ही मिलते हैं।

ध्यान की अवस्था में जब आदेश ग्रहण करने वाली प्रत्येक इन्द्रिय सो जाती है, तब यही आज्ञा चक्र गुरु का सूक्ष्म आदेश ग्रहण करता है। इसके सिवाय अनुभव के सभी झरोखे बन्द हो जाते हैं।

स्थूल और सूक्ष्म के बीच एक पर्दा है, स्वर-निरोधक के जैसा। जब कोई स्थूल अवस्था में रहता है तो उसे सूक्ष्म स्वर सुनाई नहीं देता और जब सूक्ष्म में चला जाता है, तो स्थूल आवाज सुनाई नहीं देती। एक क्षेत्र में होने वाले अनुभव का प्रवेश दूसरे क्षेत्र में नहीं हो पाता है। ध्वनि-स्पन्दनों की अलग-अलग आवृत्तियाँ होती हैं और हमारी इन्द्रियाँ एक खास हद तक होने वाले कम्पन को पकड़ने की क्षमता रखती हैं, न अधिक न कम।

गुरु जिन शब्दों के माध्यम से शिष्य को आदेश देता है, वे शब्द सूक्ष्म होने चाहिये। गुरु भी ऐसे हों जो शब्दों की सूक्ष्म प्रेषण कला को जानें। ये शब्द विचारों से उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि विचार तो मन से पैदा होते हैं। वे सूक्ष्म कैसे हो सकते हैं? वे शब्द केवल गुरु की आत्म-प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं। इसीलिये जो गुरु सूक्ष्म में रहते हैं, वे ही सूक्ष्म शब्द पैदा कर सकते हैं, पर यह कितना कठिन है! सदा सूक्ष्म में रहना सम्भव नहीं। इस अवस्था में कर्म-क्रिया नहीं होती है। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। इसके लिये क्रिया-कर्म, जगत् के बंधन, सुख-दु:ख से दूर, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि के भी ऊपर, शुभ या अशुभ, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, जो भी प्रभाव हों, उन्हें छोड़ना पड़ता है।

ऐसा गुरु शायद ही मिलता है। यद्यपि उसकी सभी इन्द्रियाँ स्वाभाविक कार्य करती हैं, पर वह रहता है सूक्ष्म में। ऐसा गुरु जब अपने शिष्य को शब्दों का बाण मारता है, तब शिष्य के आज्ञा चक्र में एक प्रकार की प्रतिस्फूर्ति होती है, जो उसे साधना-पथ पर आगे ले जाती है। जिस समय शिष्य को यह शब्द बाण लगता है, उसे ऐसा अनुभव होता है जैसे वह किसी अन्धेरे कमरे से आगे निकल गया हो, और एक बहुत बड़े क्षेत्र में पहुँच गया हो। वह दुनिया स्वप्नों या संस्कारों की दुनिया जैसी दिखलाई नहीं देती। वह देखने में बिल्कुल स्थूल जगत् जैसी लगती है, जहाँ सभी कार्य-कलाप, अनुभव, स्पर्श आदि ठीक बाह्य जगत् जैसे ही होते हैं। यह अंतर्जगत् ठीक बाह्य-जगत् के जैसा ही है, केवल एक फर्क है। बाह्य जगत् नाशवान है, अंतर्जगत् अविनाशी। उस जगत् में पहुँचने के बाद यह जगत् एक बार असत्य दिखाई पड़ने लगता है। यह तभी सम्भव है जब आज्ञा चक्र खुल जाता है, और वहाँ गुरु का आदेश सुनाई पड़ने लगता है। इसके आगे साधक को गुरु के शब्द को छोड़कर कोई साधना सुनाई नहीं देती। यहाँ तक तो उसने अनेक उपाय कर आज्ञा चक्र को जगाया। इसके आगे गुरु के ही शब्द ले जाते हैं। आगे बढ़ने के बाद वह आत्मा के प्रकाश का अनुभव करता है और देखता है कि मैं और मेरी आत्मा, दोनों एक हैं। दोनों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं। 'जानत तुमहि तुमहि होई जाई,' वाली बात होती है। यही राजयोग, कर्मयोग, या अन्य साधनाओं का साध्य है।

– 'ईशावास्योपनिषद्' से उद्धृत

गुरु के साथ सम्बन्ध की स्थापना

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

जैसे ही आप गुरु से मन्त्र प्राप्त करने का निर्णय लेते हैं, आप उनसे एक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। सर्वप्रथम गुरु-शिष्य सम्बन्ध आत्मा के स्तर पर स्थापित होता है। तदुपरान्त वह भावनात्मक स्तर पर और अन्त में मानसिक स्तर पर आता है। तब आप इसे समझ सकते हैं और गुरु के पास जाते हैं। आप उनसे मन्त्र के लिये निवेदन करते हैं और वे आपको एक मन्त्र प्रदान करते हैं। उसके बाद गुरु महत्त्वहीन हो जाते हैं तथा सिर्फ एक कार्य महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आपको दिन-रात निरन्तर मन्त्र का जप करना है, यहाँ तक कि कुछ समय के बाद वह आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में समाहित हो जाए।

भक्ति एक अति सहज, स्वाभाविक प्रक्रिया है। जिस प्रकार प्रेम और घृणा करने की शिक्षा नहीं दी जा सकती है, वैसे ही भक्ति सीखी नहीं जा सकती और न आरोपित की जा सकती है। यदि आपके हृदय में गुरु के प्रति भक्ति नहीं है तो कुछ नहीं किया जा सकता। आपकी भक्ति-भावना को सशक्त बनाने के लिये विटामिन की कोई गोली उपलब्ध नहीं है। भक्ति तो सहज, स्वाभाविक और प्रकृति के अनुकूल ही हो सकती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु-शिष्य सम्बन्ध निश्चय ही अति घनिष्ठ और आत्मीय होना चाहिये, किन्तु सदैव ऐसा होना सम्भव नहीं है। भक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं और हर व्यक्ति की भक्ति बिल्कुल एक समान नहीं हो सकती। कुछ शिष्यों की भक्ति मन्द और शिथिल होती है तो कुछ भक्ति-भावना से विह्वल रहते हैं।

गुरु की खोज

अनेक व्यक्तियों के लिये गुरु-शिष्य सम्बन्ध सिर्फ औपचारिक होते हैं। वास्तव में यह सम्बन्ध तो इस बात पर निर्भर रहता है कि शिष्य कितना गहरा और विकसित है। मैं तीन बार शिष्य बना। जब मैं अपने माता-पिता के साथ था तो एक महिला सन्त के सम्पर्क में आया। मैं मात्र दस वर्ष का था और वे युवती थीं; उनकी उम्र पचीस वर्ष थी। उन्होंने मुझे कुछ आध्यात्मिक मार्गदर्शन दिया और इसलिये वे मेरी गुरु हुईं। मैं उनका इसलिये आदर करता था कि उनमें अत्यधिक आध्यात्मिक ऊर्जा और कान्ति थी।

अनेक वर्षों के बाद जब मैंने अपना घर छोड़ा तब गुरु की खोज में सम्पूर्ण देश में भटकता रहा। सर्वप्रथम मैं पश्चिम भारत के एक आश्रम में गया। मैं वहाँ इसलिये गया कि मेरी बहन वहाँ क्रियायोग सीख रही थी। उन्होंने सोचा कि उनके गुरु मेरे भी गुरु हो सकते हैं। वे एक भले आदमी थे, लगभग सत्तर वर्ष के थे। वे मितभाषी और शान्त थे तथा मुझे बहुत पसन्द करते थे। मैं भी उन्हें पसन्द करता था, परन्तु मैं समझता था कि वे मेरे अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं।

कुछ सप्ताह बाद मैंने वह आश्रम छोड़ दिया और पुन: बीहड़ों में भटकने लगा। मेरे पास ऋषिकेश के एक स्वामीजी का पता था, अत: मैं उनसे मिलने गया। वे एक प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् थे तथा स्वामी शिवानन्द जी के आश्रम के बहुत निकट रहते थे। मैंने उनसे कहा कि मैं शिष्य बनना चाहता हूँ और उन्होंने स्वामी शिवानन्दजी के आश्रम की ओर इंगित करते हुए कहा कि 'उस आश्रम में जाओ।' अगले दिन सबेरे मैं वहाँ गया और स्वामी शिवानन्द जी से मिला। वे उस समय कम-से-कम पचास वर्ष के अवश्य रहे होंगे। उन्हें देखते ही मैं समझ गया कि मैं अपनी यात्रा के अन्तिम बिन्दु पर पहुँच गया हूँ और मेरा अनुमान बिल्कुल सही था।

वास्तविक गुरु-भक्ति

मैं उनके साथ बहुत लम्बे समय तक रहा, किन्तु कभी भी भावुकता से प्रेरित नहीं हुआ और न विह्वल या उन्मत्त ही हुआ। तथापि उनके प्रेम और मेरी भक्ति का प्रभाव इतना गहरा था कि मैं दिन-रात आश्रम के काम-काज में व्यस्त रहा करता था। सोना तो दूर रहा, कभी-कभी तो भोजन करने का समय भी नहीं मिलता था। आश्रम का निर्माण करने के लिये मैं अथक परिश्रम करता था, किन्तु वे यह सब नहीं चाहते थे। हर बार कोई नया भवन या कमरा तैयार करने के बाद जब मैं उन्हें आशीर्वाद देने के लिये बुलाता, तो वे कहते, 'तुमने एक और माया, एक और सूक्ष्म बन्धन का निर्माण किया है।' और इस प्रकार मैंने अनेक वर्षों तक स्वामी शिवानन्द जी के लिये एक भिन्न प्रकार की भक्ति के साथ कार्य किया। यह भावनात्मक, बौद्धिक या मानसिक भक्ति नहीं थी। यह वास्तविक भक्ति थी, क्रियात्मक भक्ति।

गुरु के प्रति इस प्रकार की भक्ति में क्या रखा है कि आप निरन्तर उनका नाम जपते रहें, लेकिन गन्दगी में बैठे रहें! यदि उनका आश्रम उजाड़ हो और उनकी फुलवारी में फूल न हों तो यह कैसी भक्ति हुई? शिष्य की भक्ति वास्तविक होनी चाहिये। जब मेरे गुरु का जन्मदिन मनाया जाता था तो सभी शिष्य उनकी पूजा करने जाया करते थे। मैं नहीं जाता था। इसके बदले मैं रसोईघर में जाकर काम किया करता था। मेरे गुरु-भाई मुझसे पूछा करते थे, 'अरे, तुम स्वामीजी के प्रति भक्ति क्यों नहीं दिखाते?' मैं कहा करता था, 'तुम्हारी भक्ति भावनात्मक है, जबकि मेरी भक्ति वास्तविक है।'

सम्बन्ध की व्यावहारिकता

आप यह अवश्य याद रखें कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं। तन्त्र में गुरु-शिष्य सम्बन्ध बिल्कुल पूर्ण होता है। तांत्रिक ढाँचे के अन्तर्गत गुरु और शिष्य के बीच सभी प्रकार के सम्बन्धों का अभ्यास किया जा सकता है, किन्तु यदि आप गृहस्थ हैं तो यह सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति एक पति, एक पत्नी, एक पुत्र या एक पुत्री है, वह सामाजिक प्रतिबद्धताओं और भावनात्मक दायित्वों से जुड़ा हुआ है। इसलिए उसे परिवार और गुरु के प्रति अपने दायित्वों के बीच निश्चय ही सन्तुलन स्थापित करना चाहिये।

गुरु के साथ प्रत्येक व्यक्ति का सम्बन्ध सहज, परम्परागत और व्यावहारिक होना चाहिये। यदि आप गृहस्थ हैं तो अपने गुरु के पास जाकर एक मन्त्र के लिये निवेदन कीजिये, उसे श्रद्धा से ग्रहण कीजिये तथा गुरु का 'हरि ॐ' से अभिवादन कीजिये। तदुपरान्त घर जाकर मन्त्र का अभ्यास कीजिये। जब भी आप अभ्यास के लिये बैठें, अपने गुरु का स्मरण करें और अभ्यास के अन्त में भी उनका स्मरण करें। गुरु से आपके सम्बन्ध का यही आधार होना चाहिये।

– 'गुरु शिष्य सम्बन्ध' से उद्धृत

ईश्वर, गुरु और शिष्य

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

दुनिया में ऐसे तीन सम्बन्ध होते हैं जो एक से ही किये जाते हैं, अनेक से नहीं। एक तो पति और पत्नी का, दूसरा गुरु और शिष्य का और तीसरा भगवान और जीव का। जैसे पति की एक ही पत्नी होती है, वह दूसरी पत्नी नहीं रख सकता। रखते हैं लोग, मगर उसको उचित नहीं मानते, स्वीकार नहीं करते। वैसे ही पत्नी का एक पति होता है, वह दूसरा पति नहीं कर सकती है। करती है तो उसको अनुचित कहते हैं। जिस प्रकार पति और पत्नी के बीच में एक-से-एक का सम्बन्ध है, उसी प्रकार गुरु और शिष्य में भी 'वन-टू-वन' का सम्बन्ध होता है। एक-से-अनेक का सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा नहीं कि मर्जी आई तो आज मेरे साथ, कल मर्जी आई तो बाबा धर्मानन्द के साथ, परसों मर्जी आई तो बाबा कर्मानन्द के साथ! हाँ, सत्संग सबसे होता है, परन्तु गुरु और शिष्य का जो सम्बन्ध है, वह एक के साथ ही होता है। यह न केवल हमलोगों की मर्यादा है, बल्कि ईसाइयों, मुसलमानों, जैनों और अन्य धर्मों की भी है।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध 'वन-टू-वन' का है, और पति-पत्नी का सम्बन्ध भी। दोनों सम्बन्धों में गहराई बराबर-सी ही है। फर्क इतना है कि एक तरफ सम्बन्ध की मर्यादा शरीर और भावना है, जबकि दूसरी तरफ सम्बन्ध की मर्यादा आत्मा है। गुरु और शिष्य में सम्बन्ध आत्मा से होता है, शरीर से कोई मतलब नहीं। हम तो यहाँ बैठे हैं, पर हमारी पूजा मुंगेर में हो रही है। शरीर और आत्मा अलग-अलग चीजें होती हैं। पति और पत्नी का सम्बन्ध शारीरिक, भावनात्मक और सामाजिक है। गुरु और शिष्य के बीच जो सम्बन्ध होता है वह भक्ति-भावना और आत्मा का सम्बन्ध है। ईरान के बहुत बड़े सूफी संत, जलालुद्दीन रूमी हमेशा यही कहा करते थे कि गुरु और शिष्य देखने में भले दो होते हैं, लेकिन हकीकत में एक ही होते हैं।

परिपूर्ण गुरु

हम लोग बीसवीं शताब्दी के हैं। हमारा जो आधुनिक दिमाग है, यह बड़ा विचित्र है। आज का आदमी बहुत चंचल है, बड़ी-बड़ी बात कहता है। वह यह कहेगा जरूर कि गुरु और शिष्य एक होते हैं, मगर व्यवहार में नहीं उतार सकता उसको। बोलने में क्या रखा है, मगर जब व्यवहार का समय आता है तब गुरु-शिष्य के बीच एकता नहीं हो पाती। और मजे की बात है कि जितने भी चेले होते हैं उनको बढ़िया गुरु ही चाहिए, थोड़ा-सा भी घटिया गुरु हुआ तो छोड़ देते हैं!

किसी भी गुरु का बढ़िया या घटिया होना शिष्य की भावना पर निर्भर है। हम बढ़िया आदमी नहीं हैं, मगर तुम्हारे लिए बढ़िया हैं, क्योंकि तुम्हारी भावना अच्छी है। इस बात को बिल्कुल पक्की तरह समझ लो, यह केवल गुरु के बारे में नहीं, बल्कि पति-पत्नी के बारे में भी लागू होती है। अगर घर में तुम्हारा पति बहुत अच्छा है तो इसका मतलब यह नहीं कि तुम्हारा पति सचमुच वैसा है, बस तुम्हारी समझ अच्छी है। 'मेरी पत्नी तो बहुत झगड़ालू है, बहुत तंग करती है' – इसका मतलब कि पतिदेव की समझ ठीक नहीं है। पति अगर अपनी स्त्री में दोष देखता है तो दोष पत्नी में नहीं, पति की दृष्टि में है। दृष्टि-दोष के कारण ही पति को पत्नी में और पत्नी को पति में दोष दिखलाई पड़ता है। ऐसे ही शिष्य को गुरु में भी दोष दिखाई पड़ता है।

शिष्य का बढ़िया होना भी जरूरी नहीं। हर एक तो यह सोचता है कि, 'हे भगवान! मेरे को एक अच्छा चेला दो', लेकिन अगर अच्छा चेला मिल गया तो गुरु किस काम का? तब तो वही तुम्हारा गुरु हो गया! अगर चेला बढ़िया होता है तो फिर गुरु की जरूरत ही नहीं पड़ती। चेले का मतलब घटिया। अगर डॉक्टर सोचे कि मेरे अस्पताल में कोई बीमार आए ही नहीं, तो फिर डॉक्टर किस काम का! जैसे डॉक्टर के यहाँ बीमार ही जाते हैं वैसे ही गुरु के यहाँ सब मूर्खों को ही आना चाहिए। तब तो ज्ञान देगा न? अगर तुम ज्ञानी हो जाओ तो फिर तुम्हें मुझसे कोई मतलब ही नहीं है। घर में बैठे रहो, ज्ञानी तो हो ही गए हो।

इसी तरह, अगर गुरु सिद्ध हो, परिपूर्ण हो तो फिर वह गुरु नहीं बनना चाहता। जब परिपूर्णता की अवस्था आती है तब व्यक्ति में गुरु बनने की आकांक्षा नहीं रहती। यह पक्की बात तुमको बता रहा हूँ, इसलिए कि कोई गलती न करे। सभी लोग सिद्ध, परिपूर्ण गुरु चाहते हैं, मगर ऐसा गुरु, गुरु बनने लायक नहीं रहता। दक्षिण भारत में एक महात्मा थे, उनका नाम रमण महर्षि था। वे किसी से बात नहीं करते थे, अकेले में बैठे रहते थे। उनसे मिलने के लिए बहुत-से लोग आते थे। सन् 1941-42 की बात कह रहा हूँ। रमण महर्षि विश्वविख्यात महात्मा थे, बड़े उच्चकोटि के संत थे। दक्षिण भारत में अरुणाचलम् के पास तिरुवन्नमलई में रहते थे। कोई आश्रम नहीं बनाया उन्होंने। वहीं एक सेठ ने उनको एक छोटी-सी जगह दे दी। वे दिनभर पैर पसारकर पड़े रहते थे, कोई उनसे उपदेश देने के लिए कहता तो वे कहते थे, 'नान यार', 'अपने को खोजो'। इतना ही बोलते थे वे। कभी उपदेश नहीं देते थे। परिपूर्ण गुरु का यह हाल होता है।

जो गुरु विदेहमुक्त होते हैं, जिनको अपने शरीर की जानकारी तक नहीं होती है, जिनको कष्ट या आराम, दुःख या सुख की जानकारी नहीं होती और जिनके मन में द्वैत-भाव नहीं रहता, वे गुरु न शिक्षा देते हैं और न ही दे सकते हैं। गुरु वही बन सकता है जिसके मन में द्वैत-भावना होगी। इसलिए शिष्य को कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरा गुरु परिपूर्ण हो। अगर तुम्हारी भावना शुद्ध है तो तुम्हारे लिए तुम्हारा गुरु अपने आप परिपूर्ण हो जाता है।

जितने भी संत-महात्मा हैं, चाहे जिस धर्म के हों, सब की करनी एक ही होती है और वह करनी होती है तपस्या। सब संत, सब साधु-महात्मा, सब गुरुजन तपस्या करते हैं। विद्वत्ता आवश्यक नहीं। साधु-महात्मा को विद्वान् होने की जरूरत नहीं है। हाँ, विद्वान् हो तो बहुत अच्छा। व्यासदेव जी, शंकराचार्य जी, रामानुजम्, ये सभी बहुत उच्चकोटि के विद्वान् थे।

गुरु और ईश्वर के साथ सम्बन्ध

गुरु के साथ शिष्य के जो सम्बन्ध होते हैं उनमें पहला है, गुरु और शिष्य का एक साथ रहना; दूसरा, शिष्य गुरु की सेवा करे, और तीसरा, गुरु के प्रति उसके मन में भक्ति हो। गुरु और ईश्वर, ये दो प्रमुख तत्त्व होते हैं आध्यात्मिक जीवन में। उसमें गुरु का स्थान सबसे पहले आता है, उसके बाद ईश्वर का स्थान आता है, क्योंकि सबसे पहले दरबान, उसके बाद मालिक।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काकें लागूँ पाय ।
बलिहारी गुरु आपनो जिन गोविन्द दियो मिलाय ॥

हर व्यक्ति के अन्दर ईश्वर का निवास है, किन्तु हमें उसका अनुभव नहीं होता। मेरे अन्दर, तुम्हारे अन्दर और सबके अन्दर परमात्मा उपस्थित है, किन्तु पता नहीं

चलता कहाँ पर है। ढूँढते हैं तो मिलता नहीं है। हाँ, वे बैद्यनाथ मन्दिर या किसी और मन्दिर में दिखाई देते हैं, पर अन्दर में नहीं दिखाई देते। संत-महात्माओं ने कहा है कि वह जो ईश्वर तत्त्व है, उसे गुरु तत्त्व प्रकट करता है।

गोपियों और श्रीकृष्ण के बीच क्या सम्बन्ध था? वह सम्बन्ध था प्रेम-रस का। जब तक गोपियों को भगवान कृष्ण का साहचर्य मिलता था, तब तक रास लीला होती थी, पर जब वे वृन्दावन-मथुरा छोड़कर द्वारिका चले गए, गोपियाँ तो पीछे ही रह गईं। परन्तु गोपियों को भगवान कृष्ण की अनुपस्थिति का कभी अनुभव नहीं हुआ, बल्कि उनके विरह का अनुभव हुआ। यह चीज इतनी जल्दी समझ में नहीं आएगी। विरह का अनुभव और उपस्थिति का अनुभव, दोनों समान हैं, क्योंकि जब किसी के विरह की भावना तुम्हारे मन में आती है, तब उस व्यक्ति की उपस्थिति का अनुभव भी होता है। तो गोपियाँ विरह से आकुल हो गईं और उस विरह की वजह से उन्हें श्रीकृष्ण की उपस्थिति की अनुभूति नित्य-निरंतर अपने अन्दर में होती रही। जब भगवान श्री कृष्ण ने उद्धव को मथुरा भेजा कि गोपियों को जाकर देख आओ तब गोपियों ने उनसे कहा –

उधो मन नाहीं दस-बीस। एकहुँ ते सो गयो श्याम संग, कौन अराधे ईश ।।

मन तो एक है, चेतना एक है। जब एक बार वह किसी व्यक्ति में लग गई तो उसी में लग गई। अब वह चाहे द्वारिका में बसे या बद्रीनाथ में, अपने को उससे कोई मतलब नहीं है। वह तो सदा मेरे अन्दर में है। जो अन्दर की चीज है उसका अनुभव कराने के लिए पहले गुरु के साथ सम्बन्ध होता है और यह माना जाता है कि इस सम्बन्ध का आधार है प्रेम। प्रेम दो तरह का होता है, एक तो वह प्रेम जो दुनिया में तुम देखते हो और दूसरा जो अन्दर का होता है। भगवान की उपस्थिति का नित्य-निरंतर अनुभव करने के लिए पहले गुरु की उपस्थिति का अपने अन्दर अनुभव करना पड़ता है। इसके लिए अगर कोई सोचे कि हम गुरु के घर में ही रहें, गुरुजी के कमरे में ही रहें, नहीं, उसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दो व्यक्तियों के प्रेम में भौगोलिक दूरी का कोई मतलब नहीं है। उसी तरह दो व्यक्तियों के वैर में भी भौगोलिक दूरी का कोई मतलब नहीं। अगर हम किसी से घृणा करते हैं या किसी से प्रेम करते हैं तो वह बगल में रहे या दूर, कोई फर्क नहीं पड़ता।

एक ईसाई सन्यासी थे, ब्रदर लॉरेन्स। उन्होंने एक बात कही थी कि जिस तरह से मनुष्य को भय का अनुभव होता है, वैर, वैराग्य या अनुराग की प्रतीति होती है, शारीरिक वेदना का अनुभव होता है, ठीक उसी तरह से हर व्यक्ति को ईश्वर की प्रतीति होनी चाहिए, अनुभव होना चाहिए। हम लोग भले ही मन्दिर में जाएँ, तीर्थ करें, मगर भगवान की प्रतीति नहीं होती। हम उन्हें भूल जाते हैं। हमें बेटा याद रहता है, मरे हुए दादा की याद आती है, दुश्मन की बराबर याद बनी रहती है, मगर भगवान

की याद नहीं रहती। एक छोटी-सी बात, यदि तुम्हारा किसी से झगड़ा हो जाए तो खाते समय तुम्हें गुस्सा आता है, रात में सोने के समय नींद नहीं आती, उसी का ख्याल आता है। किसी आदमी से दुश्मनी हो गई तो उसके साथ इतनी प्रतीति होने लगी और जो भगवान तुम्हारे अन्दर है उसकी प्रतीति ही नहीं होती!

जीवन का मिशन

गुरु पूर्णिमा के दिन, सबसे कठिन मिशन जिसे पूरा करने का संकल्प मनुष्य को लेना है, चाहे वह गृहस्थ हो या साधु, पुरुष हो या स्त्री, चाहे जिस भी जाति या धर्म का हो, वह यही कि जैसे दुश्मन की याद हमेशा बनी रहती है, वैसे ही भगवान की याद हमारे मन में सतत् कैसे बनी रहे! तुलसीदास जी ने तो कहा है –

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ।।

जिस मिशन के बारे में मैं बोल रहा हूँ, यह बहुत कठिन है। मनुष्य केवल इसी मिशन को पूरा करने के लिए मनुष्य बना है। तुम बच्चे बनाने के लिए मनुष्य नहीं बने हो। बच्चे तो कुत्ता भी पैदा करता है, भैंस भी पैदा करती है। दुनिया में जितने जीव हैं सब बच्चे पैदा करते हैं, तो तुमने बच्चा पैदा करके कौन-सा तीर मार लिया!

मनुष्य का जो जन्म हुआ है, उसको ये जो दो पैर मिले हैं जिनसे वह सीधा खड़ा होता है, जो दिमाग मिला है जिससे अपने-पराये को देखता है, जिससे देश, काल और दिशा का ज्ञान प्राप्त करता है, ऐसी व्यापक प्रतिभा वाले मनुष्य का मिशन क्या हो सकता है? यह तर्कसंगत बात कह रहा हूँ, कोई मनगढ़ंत बात नहीं। मनुष्य के पास कितनी सारी खूबियाँ हैं! किसी गाय को कितने ही साल कॉलेज में रख दो, पर वह कम्प्यूटर नहीं सीख सकेगी। किसी गधे को तुम विश्वविद्यालय में एम.ए. नहीं करा सकते हो, वह गधे का गधा ही रहने वाला है।

यह मनुष्य जब पैदा हुआ तब इतना बेवकूफ था, इतना असमर्थ था, इतना कमजोर था कि दो साल तक उसकी माँ उसको गोद में ही खिलाती थी, उसकी टट्टी-पेशाब साफ करती थी। वह चल नहीं सकता था, दौड़ नहीं सकता था, उड़ नहीं सकता था। जबकि चिड़िया का बच्चा, जानवर का बच्चा, पन्द्रह दिन में अपने आपको संभाल लेता है। और यहाँ बरसों, बुढ़ापे तक संभाल नहीं सकता अपने को। पर इस आदमी के पास एक विशेष चीज है। 'भगवान है', इस बात का आदमी को पता चल चुका है। आपने भगवान को देखा नहीं है, मगर आपको पक्का पता चल चुका है कुछ है जरूर। कैसे पता चला? जब मकान देखते हो तो पता चल जाता है कि इसे जरूर किसी मिस्त्री ने बनाया होगा। मिस्त्री को देखने की जरूरत नहीं है।

किसी घर को देखकर क्या उसके मिस्त्री होने का प्रमाण देना पड़ेगा मुझे? मिस्त्री था, बस हमने देखा नहीं।

इतनी बड़ी सृष्टि, इतने बड़े सूर्य-चन्द्र, इतने सितारे, इतनी विचित्रता, इतनी अद्भुत चीजें! शरीर को देखो, मन को देखो, इतनी विचित्रता! यूरेनियम के एक छोटे पत्थर में इतनी ऊर्जा, इतनी विचित्रता! सब जगह उसने करिश्मे भर-भर कर रखे हैं। यह अपने-आप तो नहीं हो सकता। इस प्रकृति में जो चमत्कार आज हम देख रहे हैं, ये चमत्कार अपने आप आ सकते हैं क्या? क्या यह सृष्टि स्वयं प्रस्तुत है? क्या तुम बिना माँ-बाप के, अपने आप जन्मे हो? सबकी माँ है, सबका बाप है, सबको पैदा करने वाला कोई-न-कोई है। तो फिर सृष्टि का स्रष्टा नहीं है, कैसे कह सकते हो? सब चीजों को पैदा करने वालों का तुमने नाम दे दिया, पर जब सृष्टि को पैदा करने वाले की बात होती है तब तुम बोलते हो 'मालूम नहीं'!

असली चीज जो हम बोलना चाहते हैं वह यह कि मनुष्य जीवन धारण करके जो कुछ भी हमने पाया या कमाया या जो कुछ भी आज हम हैं, क्या वह काफी है? क्या सचमुच में इसी के लिए हमारा जन्म हुआ? अगर तुम यह मानकर चलो कि इसी के लिए तुम्हारा जन्म हुआ तब तुम्हारा हमारा रिश्ता खतम! तुम यह मान कर चलो कि नहीं, ऐसा नहीं है, यह जो हमको मिला है, यह अपनी जगह पर ठीक है, पर हमारे जीवन का प्रमुख प्रयोजन है परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव। भगवान की प्राप्ति बहुत बड़ी चीज है। यहाँ प्राप्ति की बात कर रहा हूँ, दर्शन की नहीं। आखिर क्या देखोगे। अर्जुन को दिखाया तो डर के मारे पागल हो गया। तुम लोग तो भूत से डरते हो, भगवान से पता नहीं क्या होगा! नहीं, परमात्मा की प्राप्ति तो अलग चीज है। यह सबसे सरल चीज हम बता रहे हैं। जैसे हमें भय का अनुभव होता है, सरदर्द का अनुभव होता है, पीठदर्द का अनुभव होता है, पेट में मरोड़ का अनुभव होता है, पुत्र की मृत्यु के शोक का अनुभव होता है, शत्रु का अनुभव होता है, स्त्री का अनुभव होता है या लोभ का अनुभव होता है, करीब-करीब उसी तरह से भगवान का अनुभव हो। मनुष्य जीवन का जो सबसे बड़ा मिशन है, वह यही है।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में वर्णन आता है कि जब युद्ध समाप्त हो गया और रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक हो गया, तब एक दिन उन्होंने सारे पुरवासियों को बुलाया और उनसे जो कुछ कहा वही मैं आप लोगों को अभी बोल रहा हूँ कि इस दुर्लभ मनुष्य जीवन का उपयोग केवल ईश्वर की प्रतीति में करो। जैसे गोपियों का अनुभव था, कृष्ण कहाँ और गोपियाँ कहाँ। जब तक कृष्ण वृन्दावन में थे तब तक साहचर्य था, मगर जब द्वारिका चले गए तब विरह। भगवान हमको न मिलें ठीक है, भगवान हमको दिखाई भी न दें ठीक है, परन्तु यदि भगवान के लिए हममें बेकली बनी रहे, बेचैनी बनी रहे, तो वही पर्याप्त है!

– गुरु पूर्णिमा, सन् 2000, रिखियापीठ

निरंजन नीरांजलि

गिरिवर के उत्तुंग शिखर पर
सुरसरि के पावन पथ पर।
शान्ति दूत अध्यात्म भूत
तेरे ही कारण गर्वित धरा महान्॥
तुमको प्रणाम हे ध्रुव ललाम।
हे सत्यम्! तुमको प्रणाम॥

तेरे पद रज भी पा जाऊँ
यदि तेरे अगण्य भक्तों की भी।
हे करुणामय तर जाऊँ
मिट जावे लालसा जी की॥
तुम अखिल धरा के गुरु महान्।
हे सत्यम्! तुमको प्रणाम॥

देव तुम परम सच्चिदानन्द
हम मृत्यु लोक के भार।
करो हे सत्यम् करतार
श्रद्धा के दो फूल स्वीकार॥
श्रद्धा-सिंचित संपृक्त हिये
अंजलि में दो अल्प प्रसून लिये
हे सत्यम्! तुमको प्रणाम॥

– स्वामी निरंजनानन्द,
जुलाई 1969

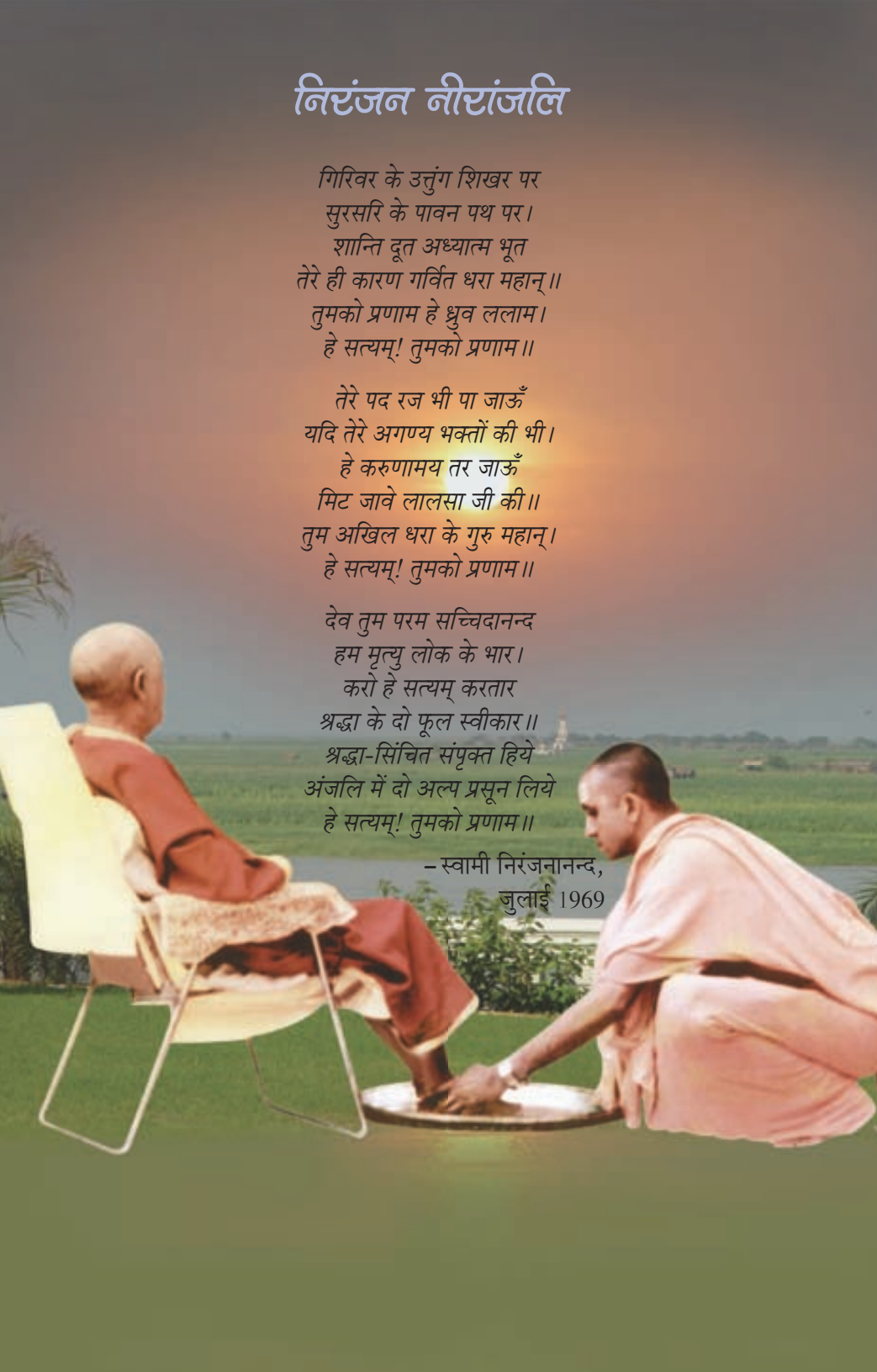

गुरु तत्त्व

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

हम लोग सामान्यतया पंच-तत्त्वों की चर्चा करते हैं – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, लेकिन उनके परे भी एक तत्त्व है, जो पाँचों भौतिक तत्त्वों में निहित है, उनका आधार है। इस तत्त्व को आत्म-तत्त्व कहते हैं। इन्द्रियों के माध्यम से हमें पाँच भौतिक तत्त्वों का तो अनुभव होता है, पर आत्म-तत्त्व का नहीं, क्योंकि वह सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है। उस आत्मा को हम छठे तत्त्व के रूप में पहचान नहीं पाते, क्योंकि वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु या आकाश से नहीं बना है। वह आत्मा जीवन का, ज्ञान का आधार है। वह परमात्मा का ही अंश है।

ईश्वर पूर्ण है। *ईस्वर अंस जीव अबिनासी*– ईश्वर का जो अंश आत्मा के रूप में निकलकर प्रत्येक प्राणी में निहित है, वह भी पूर्ण है। यही आत्मा वास्तव में छठा तत्त्व है, जिसे गुरु तत्त्व की संज्ञा भी दी जाती है। क्यों?

परमात्मा असीम, अप्रमेय और निराकार है। एक असीम तत्त्व को सीमित मन द्वारा, एक अप्रमेय तत्त्व को स्थूल इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। लेकिन उसकी शक्ति का अनुभव अवश्य किया जा सकता है। उस ईश्वरीय शक्ति की हमारे जीवन में एक निश्चित भूमिका है। वह भूमिका क्या है? हमारे जीवन के अंधकार को दूर करना।

जैसे-जैसे हम अंधकार, अविद्या, अहंकार और अस्मिता की परतें हटाते हैं, वैसे-वैसे आत्मा का प्रकाश प्रबल होता जाता है और जीवन के हर स्तर पर हमारा विकास होता है। शारीरिक स्तर पर अधिक संतुलन आता है, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर अधिक परिपक्वता आती है, और आध्यात्मिक स्तर पर अधिकाधिक आन्तरिक जागृति आती है। सब कुछ एक साथ आगे बढ़ता है, विकसित होता है।

ईश्वर को प्राय: व्यष्टि और समष्टि के नियंता के रूप में पारिभाषित किया जाता है। यह विचार, यह अवधारणा अपनी जगह ठीक है, लेकिन अहम बात यह है कि असीम और अव्यक्त होने के साथ-साथ ईश्वर सीमित और दृष्टिगोचर भी है। प्रकृति के आयाम में उस परा शक्ति का अनुभव हमें आत्मा के रूप में होता है, जबकि अव्यक्त, सूक्ष्म आयाम में हम उस शक्ति को ब्रह्माण्डीय आत्मा के रूप में अनुभव करते हैं। ब्रह्माण्डीय आत्मा परमात्मा कहलाती है और सीमित आत्मा जीवात्मा।

परमात्मा असीम और स्वतंत्र है, जबकि जीवात्मा सीमित है, बन्धन में है। लेकिन यह बन्धन केवल बहिर्मुखी मन और इन्द्रियों का है। यह बन्धन बाह्य है, आन्तरिक नहीं। यह केवल इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि और चित्त की कामनाओं और आकांक्षाओं से सम्बन्धित है। यह बहिर्मुखी मन ही हमारे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और

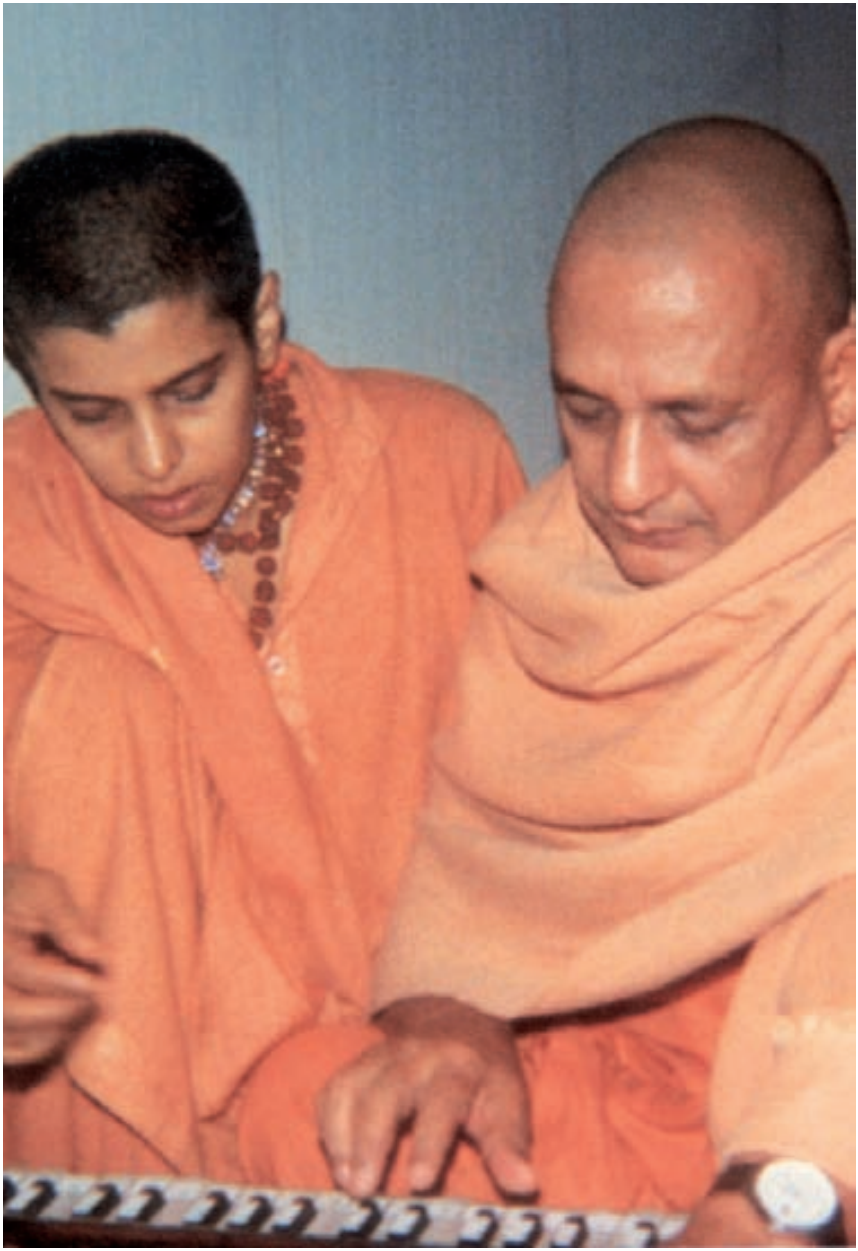

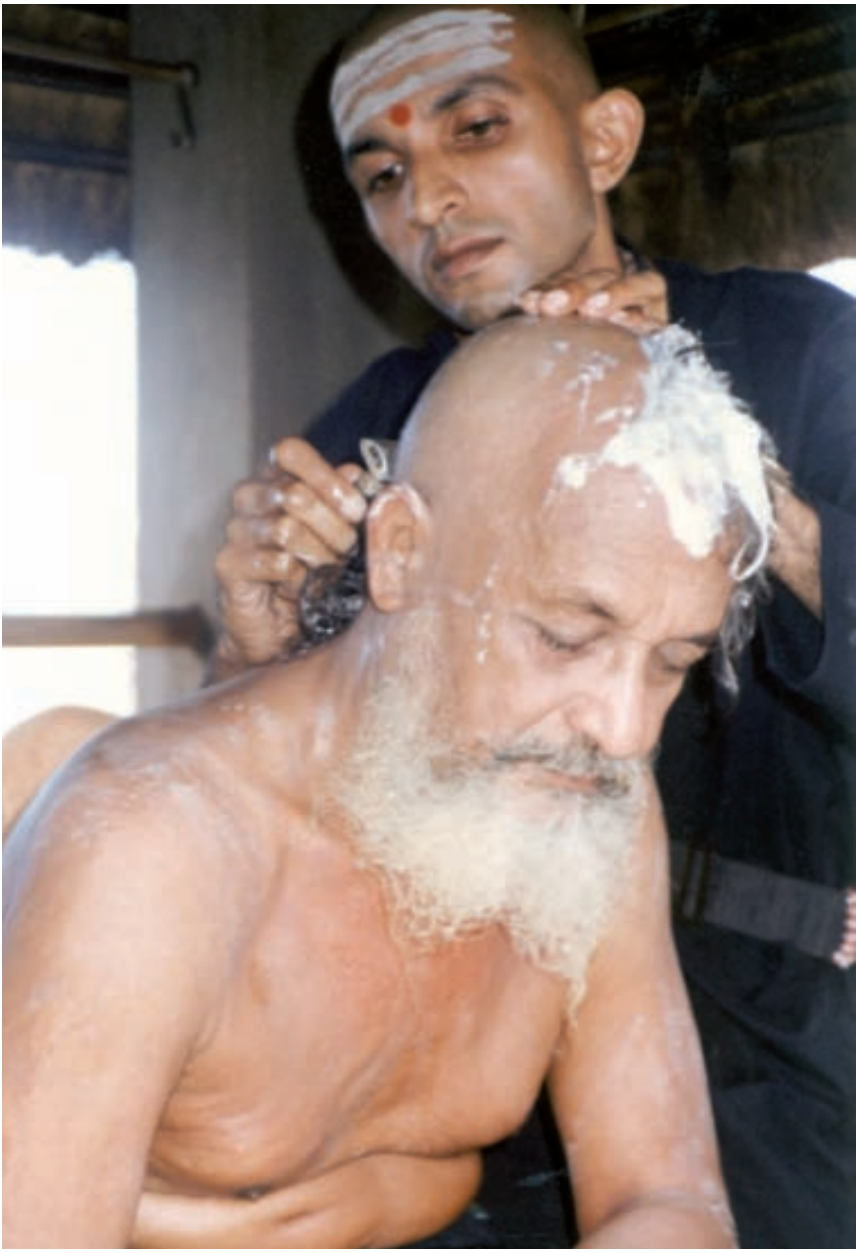

बौद्धिक स्तरों का निर्धारण करता है। बहिर्मुखी मन की वजह से ही इन्द्रिय-विषयों के साथ हमारा निरन्तर व्यापार लगा रहता है। ऐसी स्थिति में आत्मा की विमुक्त अवस्था का अनुभव नहीं किया जा सकता। जीवन में हमारी भूमिका, हमारे अनुभव सीमित रहते हैं। मैं और मेरा परिवार, सुख-दु:ख, सफलता-विफलता, धन-सम्पत्ति और ऐशो-आराम – जीवन इन्हीं विचारों के इर्द-गिर्द घूमता रहता है।

आत्मा मन के परे है। परमात्मा अपने में पूर्ण है। उसी परमात्मा रूपी अग्नि की छोटी-सी चिंगारी यह जीवात्मा है, जो इस शरीर में आकर सत्तर-अस्सी साल तक जलती रहती है। यही चिंगारी गुरु तत्त्व है, जो पूर्ण से अलग होकर भी पूर्णता का आभास कराती है। गुरु तत्त्व सर्वशक्तिमान् है, जो अपने आप को जिस रूप में चाहे प्रकट कर सकता है। जब यह तत्त्व अपने आपको इस उद्देश्य से प्रकट करना चाहता है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी उसको ग्रहण कर सके, तब वह किसी पदार्थ को अपना माध्यम बनाता है। पैगम्बर मूसा के जीवन में जलती झाड़ी ईश्वर के प्रतीक के रूप में दिखलाई दी और यहाँ गंगा दर्शन में हमने गुरु शक्ति को ज्योति के रूप में देखा, जो लगातार ग्यारह दिनों तक जलती रही। उस तत्त्व ने यह बतलाने के लिए एक छोटे-से दीपक को अपना माध्यम बनाया कि ज्योति तेल या बाती से नहीं, बल्कि एक विशेष शक्ति से जलती है।

गुरु कोई व्यक्ति नहीं, बल्कि एक ऊर्जा, एक शक्ति है। ईसाई मत में कहा जाता है कि ईशु में दिव्य चेतना अवतरित हुई थी। इसका तात्पर्य यह कि उनके मन में एक उच्च चेतना का स्फुरण हुआ और ईशु एक मामूली बढ़ई के बेटे से मसीहा बन गए। जब गुरु तत्त्व जागता है, जब दिव्य चेतना का अवतरण होता है, तब मनुष्य सिद्ध पुरुष बन जाता है।

चेतना के अवतरण का यह मतलब नहीं कि कोई चीज ऊपर से तुम्हारे भीतर उतर रही है। देखा जाए तो यह मानवीय चेतना का उत्थान है, जिससे आत्मा की शाश्वत सत्ता का बोध होता है और व्यक्ति प्रबुद्ध और ज्ञानी बन जाता है। परमात्मा पूर्ण है, इसलिए आत्म-स्वरूप गुरु तत्त्व भी पूर्ण है। और जिनमें यह गुरु तत्त्व जाग्रत हो जाता है, वे लोग देहधारी गुरु बन जाते हैं। ईशावास्य उपनिषद् का शांति मंत्र, *'ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'* एक ओर तो उस ईश्वर का संकेत दे रहा है जो अव्यक्त, अनादि और अनंत है, और साथ ही उस गुरु का भी संकेत दे रहा है जो प्रकट और दृष्टिगोचर है तथा ईश्वर की तरह ही अपने आप में पूर्ण है।

गुरु – धर्म और मोक्ष के पथप्रदर्शक

विश्व में अधिकांश संस्कृतियाँ और समाज इस मान्यता पर आधारित थे कि हमारा अस्तित्व इस संसार में हमारे जीवनकाल तक ही सीमित है। इसलिए हमारा ध्येय

एक सुखी, आरामदायक जीवन होना चाहिए। हमारी जितनी इच्छाएँ हों, उन्हें पूरा करने का प्रयास करना चाहिए। यही कारण है कि शिक्षा और व्यवसाय समाज के प्रमुख पुरुषार्थ बन गए। लेकिन भारत में ऋषियों और मनीषियों ने कहा कि काम और अर्थ के साथ अपने जीवन में दो अन्य पुरुषार्थों का समावेश करो। ये पुरुषार्थ हैं, धर्म और मोक्ष। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इन चार पुरुषार्थों के समन्वय से ही मानव जीवन पूर्णता को प्राप्त होता है।

धर्म का तात्पर्य जीवन में सद्गुणों को धारण करने से है। प्रत्येक परिस्थिति में न्यायोचित मार्ग ढूँढ निकालना और उस पर चलना धर्म पुरुषार्थ है। और मोक्ष का अर्थ है जीवन के दु:ख-तकलीफों से मुक्ति। इस तरह ऋषियों ने इस देश के समाज को आगे बढ़ने के लिए दो अतिरिक्त मार्ग बतलाए। धर्म और मोक्ष के पथ प्रदर्शक गुरु कहलाए, जबकि अर्थ और काम के प्रतिपादक शिक्षक कहलाए। इस बिन्दु को समझना बहुत जरूरी है।

मंच पर बैठकर सुन्दर व्याख्यान देने से कोई गुरु नहीं बन जाता। गुरु तत्त्व की भूमिका अलग है। शिक्षक का दायित्व तुम्हें समाज में जीविका चलाने योग्य बनाने तक सीमित है, जबकि गुरु का प्रयोजन तुम्हें धर्म और मोक्ष के मार्ग पर ले जाना है। जिस तरह कोई डॉक्टर किसी इंजीनियर का काम नहीं कर सकता है, उसी तरह हर शिक्षक भी गुरु नहीं हो सकता। दोनों की भूमिकाएँ और कार्यक्षेत्र अलग हैं।

गुरु शब्द का प्रयोग धर्म और मोक्ष के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए। धर्म का अर्थ क्या है? गुरु धर्म की शिक्षा क्यों देता है? धर्म को आजकल मजहब, पंथ या सम्प्रदाय के रूप में समझा जाता है, मगर वास्तव में इसका यह अर्थ नहीं। धर्म का तात्पर्य उस आदर्श कर्त्तव्य, उस शाश्वत दायित्व से है जिसे निभाना हमारा फर्ज है। शास्त्रों मे कहा गया है, *धारयति इति धर्मः,* जिन सद्गुणों को तुम स्वाभाविक रूप से अपने जीवन में धारण और अभिव्यक्त करते हो, वही धर्म कहलाता है।

धर्म को तीन दृष्टिकोणों से देखा गया है। धर्म का पहला आयाम है ज्ञान और विवेक – यह सोचना, समझना और जानना कि क्या सही है और क्या गलत, क्या उचित है और क्या अनुचित, क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या न्याय है और क्या अन्याय। गहन समझ और ज्ञान विकसित करना धर्म का पहला चरण है। इस ज्ञान से तुम्हारे अन्दर उचित-अनुचित को पहचानने का विवेक जागना चाहिए ताकि अनुचित चीजों को जीवन से हटाया जा सके। सद्गुणों का विकास और दुर्गुणों का निमूर्लन, यही धर्म का प्राथमिक अंग है।

धर्म के प्राथमिक अंग को सिद्ध करने के लिए इसके दूसरे अंग की आवश्यकता महसूस हुई, और वह उपासना कहलाया। मंत्र, ध्यान, अनुष्ठान – इस तरह के सभी व्यक्तिगत प्रयास उपासना के अंग हैं। तत्पश्चात् कर्मकाण्ड उपासना के अंग बने, ताकि प्रचलित सामाजिक परम्पराओं और मर्यादाओं को बनाए रखते हुए भी पूरे समाज पर एक सकारात्मक प्रभाव डाला जा सके। ये कर्मकाण्ड धर्म का तीसरा अंग हैं।

धर्म का पहला स्तर है ज्ञान का उपार्जन और इस हेतु गुरु अनिवार्य होता है। हम ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकते हैं? हममें तो आवश्यक योग्यता ही नहीं है। अगर हम ढेरों ग्रन्थ भी पढ़ लें, तो भी हमें उनका अर्थ और प्रयोजन समझ में नहीं आएगा। अपने भीतर समझ, ज्ञान और विवेक विकसित करने के लिए गुरु की आवश्यकता पड़ती है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए भी गुरु अनिवार्य है। मोक्ष का मतलब सिर्फ निर्वाण या मुक्ति नहीं। यह तो मोक्ष की अंतिम परिभाषा है। प्रारम्भ में मोक्ष का अर्थ होता है अपने जीवन के दुःखों, क्लेशों, तनावों और संघर्षों से ऊपर उठना। जिस क्षण तुम जीवन के तनावों और परेशानियों से नाता तोड़ने और अपने अंदर शांति और आनन्द खोजने का निश्चय करते हो, तुम मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर हो जाते हो। निम्न मन का रूपान्तरण और उच्च मानसिकता की प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में हम इन्द्रिय-विषयों के बन्धनों और सामाजिक परिवेशों की सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए इस बात को अच्छे से जान लो कि जो तुम्हें समाज में जीने लायक हुनर सिखाते हैं वे शिक्षक, लेक्चरर, ट्यूटर या प्रोफेसर की श्रेणी में आते हैं। वे तुम्हें सिर्फ काम और अर्थ सिद्ध करने की कलाएँ सिखाते हैं। लेकिन धर्म और मोक्ष की विद्या सिखाने वाले केवल गुरुजन होते हैं।

– 'शिष्य धर्म' से संकलित

शिष्यत्व की पहचान

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

आज महीने की पाँचवी तारीख है और सन् 2009 के दिसम्बर महीने की 5 तारीख को मेरे गुरु – ख्याल रहे, मैं यहाँ 'हमारे गुरु' शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ – श्री स्वामी सत्यानन्द जी स्वेच्छा से महासमाधि में लीन हुए थे। यहाँ गंगा दर्शन में हर महीने की 5 तारीख को उस शुभ दिन की यादगार के रूप में मनाया जाता है। और 5 की संख्या शिवजी का ही प्रतीक है। उनका मंत्र भी पंचाक्षरी है। छ: तारीख को श्री स्वामीजी को धरती माँ की गोद में भू-समाधि दी गई थी और 6 देवी माँ का प्रतीक है।

आज श्री स्वामीजी की स्मृति में रुद्राभिषेक का अनुष्ठान सम्पन्न करने के बाद मैं सोचने लगा कि उनका ऐसा कौन-सा गुण, ऐसी कौन-सी विलक्षणता है, जो मुझे सबसे अधिक प्रेरित करती है। और मन में स्पष्ट विचार आया, उनका शिष्यत्व। दुनिया में दो प्रकार के शिष्य होते हैं। पहला, जिसका अपना एक स्वार्थ, अपना एक एजेंडा, अपनी एक महत्त्वाकांक्षा होती है, और दूसरा, जिसकी अपनी कोई महत्त्वांकाक्षा नहीं होती। जिनकी महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं, जो गुरु से कुछ पाना चाहते हैं, वे गुरु के साथ सीमित अवधि के लिए ही जुड़ते हैं। एक बार उन्हें गुरु से वह मिल जाता है जिसके लिए वे आए थे, फिर वे अपना रास्ता नाप लेते हैं। गुरु से उनका मतलब पूरा हुआ।

शिष्यों का जो दूसरा समूह होता है, उनकी अपनी कोई व्यक्तिगत चाह नहीं होती सिवाय इसके कि वे अपने गुरु के सान्निध्य में रहें और गुरु के मिशन को अपना मिशन, उनके एजेंडा को अपना एजेंडा बना लें। जैसे-जैसे ये शिष्य गुरु के मिशन और संकल्प के साथ अपने आपको जोड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे वे गुरु तत्त्व के साथ एकाकार होते जाते हैं। और स्वयं को गुरु के साथ एकाकार करना, यह कोई दार्शनिक विषय नहीं है। यह कोई विशेष आध्यात्मिक चिंतन भी नहीं है। बल्कि यह तो शिष्य के जीवन की सरलता और सहजता है, जो समर्पण के रूप में प्रकट होती है। जब समर्पण के रूप में सहजता और सरलता प्रकट हो जाए, तब फिर शिष्य गुरु के दृष्टिकोण को अपना दृष्टिकोण मानता है, गुरु के प्रयोजन को अपना प्रयोजन मानता है, गुरु के लक्ष्य को अपना लक्ष्य मानता है, गुरु की जीवनशैली को अपनी जीवनशैली बनाता है, गुरु के आदर्श को अपने जीवन में अपनाने का प्रयास करता है, और अपनी सभी इच्छाओं, कामनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं एवं वासनाओं का त्याग कर देता है।

अब एक बार अपने ऊपर नजर डालकर देख लो कि तुम किस श्रेणी में आते हो, पहली या दूसरी, स्वार्थयुक्त या नि:स्वार्थ, महत्त्वाकांक्षा युक्त या महत्त्वाकांक्षा रहित।

शिवानन्द आश्रम और बिहार योग विद्यालय के प्रारम्भिक दिन

जब स्वामी शिवानंद जी के समीप शिष्यों का पहला समूह आया, जिसमें श्री स्वामीजी भी शामिल थे, उन लोगों में कोई स्वार्थ या महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। केवल गुरु के साथ रहने की तमन्ना थी, जिन्हें वे अपना आदर्श मानते थे, अपना ध्येय, लक्ष्य और आराध्य मानते थे। उनकी एक ही इच्छा थी कि हम उनके साथ रहें और उनके चरणों में अपना जीवन समर्पित कर दें। जीवन को समर्पित करने का मतलब जानते हो? अपनी इच्छाएँ, अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ, अपनी आवश्यकताएँ, अपनी जवानी, सब कुछ गुरु चरणों में अर्पित कर दो और केवल गुरु के संकल्प, दृष्टिकोण, आकांक्षा, अभिलाषा और आवश्यकता से मतलब रखो। यह समर्पण सरल नहीं है, क्योंकि इसे सिद्ध करने के लिए तुम्हें अपने आपको पूरी तरह मिटाना पड़ेगा। तुम खत्म हो जाओगे, तुम्हारे दिलो-दिमाग में सिर्फ एक चीज बचेगी, गुरु की स्मृति।

स्वामी शिवानन्द जी के पास प्रारम्भ में जो शिष्य आए थे, उन्होंने ऐसा ही जीवन जिया। वे ही लोग दिव्य जीवन संघ के आधारस्तम्भ बने, आधुनिक समाज के प्रेरक बने। स्वामी शिवानन्द जी ने हज़ारों की संख्या में लोगों को दीक्षित किया लेकिन उनमें कुछ ही नाम आज याद आते हैं। यही वे शिष्य थे जिनका अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था, बल्कि जो अपने गुरु के संदेश को चारों ओर फैलाने के लिए कटिबद्ध थे। श्री स्वामीजी उनमें से एक थे। उन्होंने इसी प्रकार का शिष्यत्व ग्रहण और सिद्ध किया। उन्हें किसी पद-पदवी, ऐशो-आराम या सुख-सुविधा से आसक्ति नहीं थी।

मैं साठ के दशक में आश्रम आया था। उस समय हम संन्यासियों का एक छोटा-सा समूह हुआ करता था। हम लोग क्या चाहते थे? योग शिक्षक बनना? नहीं। हमें तो यह भी नहीं मालूम था कि योग और संन्यास होता क्या है। हमारे दिलो-दिमाग में बस एक ही भूत सवार था – अपने गुरु के साथ रहना, बस। हमलोगों को सुख-दु:ख की कोई परवाह नहीं थी, पेट भरा है या खाली है, सोये हैं या नहीं सोये हैं, थके हैं या नहीं थके हैं, पहनने के लिए कपड़े हैं या नहीं हैं, क्लास में कुछ सिखलाया जा रहा है या चौबीस घण्टे गधे की तरह काम कराया जा रहा है, किसी चीज की परवाह नहीं थी। यह सब हमारे एजेंडा में नहीं था।

इस श्रेणी में ऐसे कई लोग आते हैं जो आज भी शिष्यत्व और संन्यास के मार्ग पर चल रहे हैं, जिन्होंने अपने आप को गुरु के संकल्प और मिशन के साथ पूर्णरूपेण एकाकार कर दिया है और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को तिलांजलि दे दी है।

रामकृष्ण परमहंस के अनेक शिष्य थे। लेकिन जब उन्होंने स्वामी विवेकानंद को देखा, तो उनके मुख से अनायास ही निकल पड़ा कि मुझे तुम्हारी ही प्रतीक्षा थी। उनके कितने शिष्य बने, लेकिन उन्हें प्रतीक्षा थी एक की। और जिसकी प्रतीक्षा

थी, उसने अपने जीवन में क्या किया, सब जानते ही हैं। अपनी दृष्टि को गुरु की दृष्टि से, अपने मन को गुरु के मन से, अपने व्यवहार को गुरु के व्यवहार से, अपनी इच्छा को गुरु की इच्छा से, अपने कर्म को गुरु के कर्म से जोड़ दिया। अपने स्वार्थ का कुछ शेष नहीं रहा, और अंत में वे बन गए एक आदर्श प्रेरक, एक आदर्श शिष्य।

इसी परंपरा में आते हैं हमारे गुरुजी, जिन्होंने अपनी सभी इच्छाओं का त्याग करके पूर्णरूपेण अपना जीवन अपने गुरुजी को समर्पित कर दिया। अपने लिए फिर कुछ भी चाह नहीं रही। स्वयं को इस प्रकार से समर्पित किया कि गुरु का दृष्टिकोण उनका दृष्टिकोण, गुरु की भावना उनकी भावना, गुरु का व्यवहार उनका व्यवहार, गुरु का आदर्श उनका आदर्श, गुरु का आचरण उनका आचरण, और गुरु का कर्म उनका कर्म हो गया। जो व्यक्ति इस प्रकार अपने आपको गुरु तत्त्व से एक कर लेता है, वही व्यक्ति प्रेरक बनता है।

महत्त्वाकांक्षी शिष्य

शायद ही कोई शिष्य प्रेरक बन पाता है। सब साधक ही बने रहते हैं। साधक हमेशा स्वार्थी होता है, उसका एक ही प्रयोजन होता है, मुझे कुछ प्राप्त होना चाहिए। तथाकथित शिष्यों का यह दूसरा वर्ग गुरु को अपनी स्वार्थपूर्ति का माध्यम बनाता है। उनमें से कुछ शिष्य इसलिए बनते हैं क्योंकि योग और आश्रम जीविकोपार्जन का अच्छा साधन प्रतीत होता है। वे कुछ समय आश्रम में संन्यासी या कर्म-संन्यासी के रूप में रहकर, प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त कर, वापस अपने नगर-शहर लौटकर अपने केन्द्र और आश्रम खोलना चाहते हैं। मानवता की नि:स्वार्थ सेवा के नाम पर वे मात्र अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करना चाहते हैं। वे योग, आश्रम और गुरु को जीवन में धन, पद और प्रतिष्ठा पाने के लिए इस्तेमाल करते हैं। गुरु के मिशन को अपना बनाने या मानने की चाह तक नहीं होती। बहुत-से चेले लोग अभी यहाँ पर उपस्थित हैं, जो हमारे पास संन्यास प्रशिक्षण सत्र में भाग लेने आए हैं, यह हुनर सीखने के लिए कि एक संन्यासी को किस प्रकार रहना चाहिए। वे हमसे कहते हैं, 'स्वामीजी, छ: महीने बीत गये, जान लिया कि क्या करना है। संन्यास दे दीजिए,

कल जाता हूँ अपना आश्रम खोलने।' ऐसे भी लोग होते हैं। जो अपने को गुरु बनाने के लिए गुरु को एक सीढ़ी के रूप में प्रयोग करते हैं। जब इस प्रकार की मानसिकता से युक्त होकर हम अपने आपको शिष्य घोषित करते हैं, तो सोच लो कि फिर हमारी अंतिम उपलब्धि क्या होगी। आज के युग में अधिकांश शिष्य इसी श्रेणी में आते हैं।

कई लोग होते हैं जो केवल मान-सम्मान और पद-प्रतिष्ठा चाहते हैं, जो आदर पाने के लिए दूसरों से झगड़ा करने पर भी उतारू हो जाते हैं, 'जानते नहीं कि मैं कितना वरिष्ठ संन्यासी हूँ, मुझे उचित सम्मान दो।' ऐसे लोग अपने अहंकार, अपनी आकांक्षाओं से प्रेरित होते हैं। वे सदा अपने अहंकार के लिए आलम्बन खोजते हैं। वे यही सब सुनना चाहते हैं, 'तुम्हारा यह पद है, तुम्हारी ये शक्तियाँ हैं, तुम्हारे ये अधिकार हैं।' भले ही वे उस पद की गरिमा को कायम रखने के लिए सर्वथा अयोग्य हों। वे गुरु से और आश्रम से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे हर हाल में उन्हें यह अवसर प्रदान करें। योग्यता या परिपक्वता न होने के बावजूद भी उन्हें प्रतिष्ठित पद पर आसीन कर, उनकी आरती उतारी जाए। यह शिष्यों की एक और श्रेणी है, जो गुरु के मिशन से तो कोई मतलब नहीं रखते, केवल अपने अहंकार को पोषित करना चाहते हैं।

शिष्यों की एक और श्रेणी होती है जो गुरु पर आवश्यकता से अधिक निर्भर होते हैं। वे अपने आप को सुधारने का प्रयास तो करते नहीं, केवल रोते-बिलखते रहते हैं और आत्महीनता के भाव से ग्रस्त रहते हैं। जब आश्रमवास से उनके संस्कारों का मंथन प्रारम्भ होता है और उनके विचारों और भावनाओं का परिष्कार होने लगता है तो वे अपने आपको सम्भाल नहीं पाते। अपने उभरते संस्कारों से पूरी तरह वशीभूत हो जाते हैं, अपना संतुलन खो देते हैं, क्योंकि उन्होंने कभी अपने दोषों और कमियों को सुधारने का प्रयास नहीं किया।

वास्तविक शिष्य

सच्चा शिष्य वही है जो अपने जीवन में अपनी गलतियों को स्वयं सुधारता है। अपने विचारों, विकारों और वासनाओं से वशीभूत होने के बजाय वह हर दिन एक बेहतर इंसान बनने की कोशिश करता है। दुर्भाग्यवश आत्म-सुधार के ऐसे निरंतर प्रयास का आज के शिष्यों में नितांत अभाव है।

केवल दीक्षा ले लेने से, या गेरू पहन लेने से कोई शिष्य नहीं बन जाता। जब तक तुम्हारा अपना स्वार्थ है, महत्त्वाकांक्षा है, एजेंडा है, तब तक तुम्हें शिष्य कहलाने का कोई अधिकार नहीं। तुम शेर की खाल में मात्र गधे हो, शिष्य का नकाब पहने एक स्वार्थी अवसरवादी हो। सच्चा शिष्य अपने आप को गुरु की आत्मा से जोड़ता है और उसी अनुसार अपना जीवन ढालने का प्रयास करता है। उसके भीतर बहुत ही सरल भावना होती है। एक बार हनुमान जी से किसी ने पूछा कि राम जी के साथ आपका

क्या संबंध है। उन्होंने कहा कि यदि मैं शारीरिक रूप से देखता हूँ, तो मैं रामजी का सेवक हूँ। अगर मैं उन्हें मन की आँखों से देखता हूँ, तो मैं उनका मित्र हूँ। मैं उन्हें अपनी सब बातें बोल सकता हूँ, और वे अपनी सब बातें बोल सकते हैं। और जब मैं उनको आत्मिक रूप से देखता हूँ, तो हम दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं, एक हैं।

यही शिष्यत्व की पहचान है। बाह्य रूप से मैं गुरु का दास हूँ। अंतरंग रूप से मैं उनका अनन्य मित्र हूँ। वे मेरी सब बातें जानते हैं, मैं उनकी सब बातें जानता हूँ, मैं उनसे कुछ नहीं छिपाता। और आत्मिक रूप से वे मेरे भीतर हैं, मैं उनके भीतर हूँ। हनुमान जी ने यह जो भाव बतलाया है, यही भाव होता है शिष्य और गुरु के बीच। और केवल भाव नहीं रहता, व्यवहार में भी प्रकट होता है। अपने गुरुजी के जीवन में हमने यह साक्षात् देखा है। वे एक ऐसे शिष्य थे जिन्होंने अपने गुरु के आदर्शों और शिक्षाओं को पूर्णतया आत्मसात् किया। अंतिम क्षण तक उन्होंने स्वयं को शिष्य रूप में देखा। गुरु उनके इष्ट और आराध्य बने रहे। जो सम्बन्ध उनका गुरु के साथ था, वह और किसी के साथ नहीं बना। जो प्रेम और भाव उनका अपने गुरु के प्रति था, उसकी कोई थाह नहीं ले सका है आजतक, क्योंकि उन्होंने अपने गुरु को अपने भीतर जाग्रत रूप में देखा।

मेरा भी यही संकल्प है, और इसीलिए मैं उन्हें 'मेरे गुरु' कहकर सम्बोधित कर रहा हूँ। तुम उन्हें अपना गुरु सिर्फ इसलिए कहते हो कि तुम्हें वे अच्छे लगते हैं, लेकिन वे 'मेरे गुरु' इसलिए हैं क्योंकि वे मुझे निरंतर प्रेरणा देते हैं, अपने जैसा बनने की। यही प्रेरणा, यही स्मृति मेरे जीवन की सबसे कीमती धरोहर है।

– 5 मई 2013, गंगा दर्शन, मुंगेर

शिष्य धर्म

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

अपने जीवन में गुरु-शिष्य सम्बन्ध का अनुभव कर पाना एक दुर्लभ, अनुपम अवसर है। जो इस मार्ग पर अंत तक चल पाते हैं, वे अत्यधिक सौभाग्यशाली होते हैं, क्योंकि वे अपना सारा जीवन दैवी कृपा की छत्रछाया में व्यतीत करते हैं। यह यात्रा शुरू होती है अपने जीवन में गुरु की भूमिका की जानकारी और समझ से। गुरु के साथ हमारा उचित सम्बन्ध क्या है, और हम कैसे शिष्य धर्म को निभा सकते हैं।

आध्यात्मिक चेतना की जागृति हर मनुष्य की नियति है। लेकिन क्रम-विकास के किसी विशेष स्तर पर आकर ही आध्यात्मिक जागरण की कामना प्रबल होती है। दीक्षा के साथ गुरु-शिष्य सम्बन्ध का अध्याय शुरू होता है। दीक्षा के समय ऊर्जा का हस्तांतरण होता है, उसी के बाद गुरु के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध विकसित होता है, उसके पहले नहीं। गुरु द्वारा मंत्र, माला और दीक्षा दिये जाने पर ही गुरु और शिष्य के बीच आध्यात्मिक धरातल पर सम्बन्ध कायम होता है, और यह सम्बन्ध आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण होता है। उससे पहले तुम बेशक गुरु के साथ बीस साल तक जुड़े रहो, उन्हें एक महान् संत के रूप में मानते रहो, लेकिन वह समझ और सम्बन्ध केवल बौद्धिक रहेंगे।

जब तक गुरु के साथ सम्बन्ध केवल बौद्धिक है तब तक वह डाँवाडोल होता रहेगा। तुम अपने गुरु की तुलना अन्य लोगों से करोगे। इस प्रकार का मानसिक या बौद्धिक सम्बन्ध एक सच्चे शिष्य के शुद्ध संकल्प को परिलक्षित नहीं करता। उसका विशुद्ध संकल्प ही गुरु-शिष्य सम्बन्ध का पोषण करता है, बाकी लोग जो गुरु का अनुसरण करते हैं वे शिष्य नहीं, ठेला, ढेला और चेला कहलाते हैं। चेला गुरु के प्रति सौ प्रतिशत समर्पित हो, यह कोई आवश्यक नहीं। दस प्रतिशत समर्पण भी चलेगा। लेकिन शिष्य का सौ प्रतिशत समर्पित होना आवश्यक है, उसके बिना शिष्यत्व जागृत नहीं होता। चेला बनकर आदमी अपनी कामनाओं को भी पूरा करे, अपने घर-परिवार का भी चिन्तन करे, गुरु की भी बात माने या न माने, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। लेकिन एक बार वह शिष्य हो जाता है तब फिर उस व्यक्ति के सामने कोई दूसरा विकल्प नहीं रहता।

शिष्य सामान्य व्यक्तियों की तरह नहीं होता। पहले वह वैसा ही था, लेकिन अब उसके भीतर की जिज्ञासा, विश्वास और आस्था, उसको अपनी अंतरात्मा के पास, अपने गुरु के पास खींचकर ले आती है। और जब गुरु के सान्निध्य में रहने की इच्छा, गुरु से एकाकार होने की इच्छा प्रबल होती है तब शिष्य को कुछ धर्मों का पालन करना पड़ता है।

प्रथम सोपान – विचार

जब व्यक्ति दीक्षित होकर गुरु से सम्बन्ध स्थापित करता है और अपनी अंतरात्मा का अन्वेषण करना चाहता है, तब उसकी पहली साधना होती है – विचार। उसे अपने आप से प्रश्न करना पड़ता है, 'मैं आध्यात्मिक जीवन में क्यों आया हूँ?' फिर विचार के द्वारा आध्यात्मिकता के उस बीज की रक्षा करो जिसे तुमने अपने भीतर बोया है।

जब किसान खेत में बीज बोता है तब वह जंगली पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, खर-पतवारों से उनकी रक्षा भी करता है। इसी प्रकार अपने विशुद्ध संकल्प को भी सतत् विचार द्वारा बचाकर रखना पड़ता है। केवल यह कह देना पर्याप्त नहीं कि मेरा प्रयोजन आध्यात्मिक सजगता का विकास है। हमेशा सतर्क रहो कि तुम्हारे मन में कैसे विचार प्रवेश कर रहे हैं और कहीं वे तुम्हें पथभ्रष्ट करने में सक्षम तो नहीं। तुम्हारे मन में भीषण उत्पात मचाने के लिए एक बुरा विचार ही काफी है।

आध्यात्मिक यात्रा हर कदम पर द्रष्टा बनने की प्रक्रिया है। तुम्हें अपने आप को परिस्थितियों में उलझाना नहीं, बल्कि उनसे अलग रखना है। अपनी साधना, ध्यान और अन्य आध्यात्मिक प्रयासों के माध्यम से तुम्हें सतत् विचार के स्तर तक आना है, जहाँ तुम अच्छे विचारों का सृजन कर अपनी रक्षा कर सको, जहाँ तुम अपने मन, इन्द्रियों और बाहरी वातावरण के नकारात्मक प्रभावों से बचने के लिए सत्संकल्पों का कवच खड़ा कर सको।

एक बार विचार द्वारा संकल्प स्पष्ट हो जाए, और उस नव-अंकुरित संकल्प की रक्षा करने की क्षमता आ जाए, तब शिष्य को अपने जीवन में चार आधार स्थापित करने पड़ते हैं, जो आध्यात्मिक पथ पर द्रुत गति से बढ़ने में सहायक होते हैं। ये चार आधार चार पहियों की तरह होते हैं, जो शिष्यत्व की गाड़ी को आगे बढ़ाते हैं।

विवेक

पहला पहिया विवेक का अर्जन है। विवेक का मतलब होता है उचित और अनुचित के बीच अंतर जानना। यह ज्ञान बौद्धिक नहीं होता। इस पर सोच-विचार नहीं किया जाता, बल्कि यह क्षमता अन्तर्प्रज्ञा से उत्पन्न होती है, जिसके माध्यम से हमें सही दिशा का बोध स्वयमेव हो जाता है। शिष्य धर्म निभाने में बौद्धिक कसरत या उछल-कूद का कोई स्थान नहीं। शिष्य को सहज रूप से अन्तर्ज्ञान होते जाना चाहिए। विवेक एक सहज प्रक्रिया बन जानी चाहिए।

'यह सही है या गलत, उचित है या अनुचित,अच्छा है या बुरा?' जबरदस्ती बैठकर ऐसा सोच-विचार करने से विवेक का अर्जन नहीं होता। अगर तुम्हारी बुद्धि मनमानी करती है, तो तुम अवश्य ऐसी प्रक्रिया से गुजरोगे। लेकिन वास्तव में विवेक एक स्वाभाविक प्रक्रिया होनी चाहिए, जिसमें ज्ञान स्वत: होने लगे। जीवन में कई चीजों का ज्ञान हमें स्वत: होता है, लेकिन जब सारा जीवन इस सहज सजगता के दायरे

में आ जाता है, तब हम दावे के साथ कह सकते हैं कि हमारा विवेक वास्तव में जाग्रत हो गया है। उस अवस्था में विवेकशक्ति हमेशा हमें गलत काम करने से रोकेगी।

इच्छाओं ने हमारे मन पर जो पकड़ बना रखी है, उसे विवेक ही दूर कर सकता है। कौन-सी इच्छा की पूर्ति हमारी पहुँच के भीतर है और कौन-सी इच्छा हवाई किला है, यह भेद जान लेने पर इच्छाएँ अपने आप कम होने लगती हैं। अगर यह बात तुम्हारी समझ में आ जाए, तो तुम पाओगे कि ऐसी बहुत कम इच्छाएँ हैं जिनकी पूर्ति जीवन के लिए आवश्यक है। बाकी सभी इच्छाएँ अनावश्यक हैं। इसलिए जब विवेक जाग्रत होता है, हम केवल अपनी आवश्यक इच्छाओं को पूरा करते हैं, और उन सब इच्छाओं को तिलांजलि दे देते हैं जो हमारी महत्त्वाकांक्षाओं और आसक्तियों के कारण पैदा हो गई थीं।

वैराग्य

दूसरा पहिया या आधार है वैराग्य, उन सभी भोग विषयों से निर्लिप्त रहना, जो सामान्य रूप से हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। वैराग्य मन की एक ऐसी अवस्था है जो विचार एवं ध्यान द्वारा जाग्रत होती है और विवेक से इसका विकास होता है। यह जान लेने पर कि क्या आवश्यक है और क्या नहीं, अनावश्यक चीजों के प्रति उदासीनता अपने आप जागती है।

वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों और घटनाओं से लगाव और उन पर निर्भरता जैसे-जैसे घटने लगती है, वैसे-वैसे हम वैराग्य पथ पर आगे बढ़ते जाते हैं। वैराग्य इच्छाओं को नकारना या उनका दमन करना नहीं है। यह किसी चीज का त्याग भी नहीं। वैराग्य का तात्पर्य सभी चीजों के बीच रहते हुए भी स्वयं को मुक्त और स्वतंत्र

रखने से है। सभी चीजें अपनी जगह रहती हैं, केवल उनका प्रभाव और उनके प्रति आसक्ति छूटती जाती है। तुम उस कमल के पत्ते की तरह बन जाते हो, जो जल में रहते हुए भी जल से अछूता रहता है – *पद्मपत्रमिवाम्भसा*।

जब हम वैराग्य के मार्ग पर चलते हैं तब सुख के प्रति जो स्वाभाविक मानसिक आकर्षण होता है, उस पर नियंत्रण प्राप्त होता है। जो मन लगातार इन्द्रिय सुख और विषय भोग के पीछे भाग रहा था, उसे अब दिशान्तरित किया जा सकता है। यह वैराग्य की मुख्य उपलब्धि है। वैराग्य तुम्हारे व्यक्तित्व को संतुलित बनाता है, मानसिक गतिविधियों को स्थिर करता है और प्राणिक ऊर्जाओं को शान्त करता है, जिससे तुम शान्ति और आनन्द का अनुभव कर पाते हो।

षट्-सम्पत्ति

शिष्यत्व का तीसरा आधार है षट्-सम्पत्ति, यानि ऐसे गुणों से अपने आपको युक्त करना जो आध्यात्मिक सजगता की जागृति में सहायक हैं। षट्-सम्पत्ति के अन्तर्गत छः गुण या सम्पत्तियाँ आती हैं। लेकिन यह सम्पत्ति भौतिक नहीं है। रुपये-पैसे, जमीन-जायदाद, गाड़ी-बंगले या जूते-कपड़े से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह व्यक्ति की निजी सम्पत्ति है, जो उसकी चेतना को प्रकाशित करती है, उसके हृदय के द्वार खोलती है और उसके जीवन को व्यवस्थित करती है। इस षट्-सम्पत्ति को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का प्रयोजन होता है। ये व्यावहारिक सद्गुण हैं, जिन्हें तुम सतत् प्रयत्न द्वारा अवश्य प्राप्त कर सकते हो।

पहली निधि है *शम*, अनर्गल इच्छाओं का त्याग। यह जानना कि हमें क्या चाहिए और क्या नहीं। जो नहीं चाहिए उसे हटाते जाना और जो जरूरी है उसे पाने का प्रयास करना। अपनी इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति सजग बनकर जानो कि क्या यह मेरे हित में है, या यह मेरी कल्पना मात्र है जिसका मेरे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार अपने मन में उठने वाली इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के द्रष्टा बनकर, अनर्गल इच्छाओं का त्याग करते जाओ, अपने झोले को खाली करते जाओ, हल्का बनाते जाओ। हमारी इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और वासनाओं का जो झोला है, वह अभी बहुत भारी है और हम लोग रोज उसी को घसीटते हुए चलते हैं। थोड़ा खाली करोगे तो हल्का महसूस करोगे।

जरा सोचो कि आज तक तुम्हारे जीवन में जितनी भी इच्छाएँ थीं, क्या वे सौ प्रतिशत पूरी हुई हैं? नहीं। तुम्हें वही प्राप्त हुआ जो तुम्हारे लिए आवश्यक था। और जो जरूरी नहीं था, वह तुम्हें नहीं मिला। उसके लिए महत्त्वाकांक्षा भले ही रही हो, लेकिन प्राप्ति नहीं हुई। तुम चाहे जितना भी हाथ-पैर मारो, तुम्हें वही मिलने वाला है जो तुम्हारी नियति में लिखा है। इसलिए जो नियति में नहीं है, उसके बारे में सोचकर हम परेशान क्यों हों?

दूसरी निधि है *दम*, इन्द्रियों का संयम। इन्द्रियों की चंचलता को रोकने का प्रयास करो, क्योंकि जब तक इन्द्रियाँ चंचल होती हैं तब तक मन, बुद्धि, भावना और प्राण, सब चंचल रहते हैं और अगर तुम इन्द्रियों की चंचलता को शान्त कर सकते हो तो ये सभी अपने आप शान्त हो जायेंगे।

तीसरी निधि है *उपरति*, उन वस्तुओं और परिस्थितियों की उपेक्षा करना जो क्षणिक सुख प्रदान करती हैं। अगर तुम्हें शाश्वत सत्य की खोज है तो क्षणभंगुर चीजों का त्याग करो। इस भाव को सजगता, समझ-बूझ और चिन्तन से पुष्टि मिलती है। मन में यह विचार प्रबल होता है कि 'मैं इन छोटे-मोटे आकर्षणों और आसक्तियों से मुक्त हूँ।' इसलिए विवेक के बिना उपरति सिद्ध नहीं हो सकती। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि तुम्हें किस चीज की जरूरत है और किसकी नहीं, और तदनुसार उन चीजों को छोड़ते जाओ जो बन्धन का कारण बन सकती हैं और उन्हें अपनाते जाओ जो उपयोगी और लाभदायक हैं।

चौथी सम्पत्ति है *तितिक्षा*, धैर्य का विकास। ऐसा न हो कि तुम भगवान से प्रार्थना करो, 'प्रभु, मुझे धैर्य प्रदान करो' और मन-ही-मन यह भी कहो, 'अभी, इसी वक्त!' तितिक्षा एक स्थिर और शान्त मन का लक्षण है। एक विक्षिप्त और विचलित मन में धैर्य का अभाव होता है। लोग अपने मन की विक्षिप्तता को छुपाने के लिए अक्सर कहते हैं, 'मैं बहुत व्यस्त हूँ, मुझे बहुत-से काम करने हैं।' तितिक्षा मन की ऐसी अवस्था है जहाँ बाहरी गतिविधियाँ मन की शान्ति को भंग नहीं करतीं। तुम किसी भी विचार, भावना, आकांक्षा, इच्छा या कर्म द्वारा विचलित नहीं होते।

तितिक्षा का मतलब सहनशीलता भी होता है। हमारे परम गुरु, स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे, 'प्रकृति तुम्हें कष्ट में इसलिए डालती है कि तुम एक महामानव बन सको।' इसलिए 'मिले दुःख ताप से शान्ति, न ऐसी प्रार्थना मेरी'। हमारी प्रार्थना हो कि हमारे कंधे मजबूत बनें, हमारी बुद्धि और भावनाएँ मजबूत बनें ताकि हम जीवन की परेशानियों, परिस्थितियों और दुःखों को मुस्कुराते हुए झेल सकें। जो व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों को नहीं झेल पाता, वह बहुत ही कमजोर आदमी है, वह टूट जाता है। इसलिए तितिक्षा का मतलब धैर्य और सहनशीलता, दोनों होता है। जैसी भी परिस्थिति है, उसमें जीना है।

धैर्य और सहनशीलता प्रकृति के नियम हैं। आदमी को छोड़कर कौन-सा जानवर गर्मी के दिनों में एयर-कण्डीशनर और सर्दी के दिनों में हीटर की खोज करता है? कौन-सा जानवर नहाने के लिए गर्म पानी की खोज करता है या पीने के लिए बिसलेरी की बोतल तलाशता है। सभी प्राणी प्रकृति के नियमानुसार जीते हैं। गर्मी है तो गर्मी को झेलते हैं, ठण्ढ है तो ठण्ढ को झेलते हैं। परेशान नहीं होते। लेकिन आदमी ही इस संसार का बिगड़ा हुआ जानवर है। वह गर्मी और सर्दी को नहीं झेल सकता। बाकी सब प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं, क्योंकि उनमें तितिक्षा होती है।

हमारे गुरुजी पहाड़ी थे, जब मुंगेर में रहते थे तब गर्मी को सहन नहीं कर पाते थे। अपने निवास-स्थान में उन्होंने सेन्ट्रल एयर-कण्डीशनिंग लगा दिया था। वे सत्ताइस डिग्री से ज्यादा तापमान को सहन नहीं कर सकते थे। लेकिन पंचाग्नि करते हुए वे अस्सी-नब्बे डिग्री तापमान में बैठे रहते थे। किस गुण की वजह से यह सम्भव हुआ? सहनशीलता, धैर्य और तितिक्षा के कारण।

पाँचवीं सम्पत्ति है *श्रद्धा*। श्रद्धा या तो ईश्वर में हो सकती है, या गुरु के प्रति या फिर सत्य के प्रति। ईश्वर, गुरु और सत्य – श्रद्धा का सम्बन्ध मात्र इन तीनों से है, चौथी किसी चीज से नहीं। और इसी श्रद्धा को विकसित करना है, बढ़ाना है। उपनिषदों में कहानी आती है कि एक बार किसी राज्य में अकाल पड़ा। बरसों तक पानी गिरा ही नहीं। सब खेत सूख गये, पशु मर रहे थे, धरती चरमरा गई थी, लोग अपने खेत-खलिहान छोड़कर दूसरी जगह जा रहे थे। उस क्षेत्र के राजा को लगा कि अगर बरसात नहीं होगी तो मेरा राज्य खाली हो जायेगा। उसने पण्डितों से पूछा कि क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा कि इन्द्रदेव को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करना चाहिए।

यज्ञ होने लगा। पूरे राज्य के लोग उस यज्ञ में भाग लेने आये। जिस दिन यज्ञ सम्पन्न होने वाला था उस दिन एक लड़का छाता लेकर वहाँ पहुँच गया। उसे देख सभी लोग हँसने लगे, 'यह कैसा बावला लड़का है! अकाल के समय छाता लेकर आया है। आसमान में मीलों तक कोई बादल नहीं दिखलाई दे रहा, और यह लड़का छाता लेकर आया है। पागल है क्या!'

उस लड़के ने जवाब दिया, 'आप किसके ऊपर हँस रहे हैं? आप लोग इस अकाल को दूर करने के लिए यज्ञ कर रहे हैं, लेकिन आपमें यह श्रद्धा है ही नहीं कि इस यज्ञ से बारिश होगी। अगर आप में श्रद्धा होती तो आपको इस यज्ञ का फल भी अवश्य प्राप्त हो गया होता। मैं तो इस विश्वास के साथ आया हूँ कि जहाँ पर समस्त राज्य के लोग एकत्र होकर बरसात के लिए ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं, उनकी प्रार्थना प्रभु जरूर सुनेंगे और वर्षा अवश्य होगी।' जैसे ही उस लड़के के मुख से ये उद्‌गार निकले, आसमान काले बादलों से भर गया और इतनी बारिश हुई कि यज्ञ मण्डप बह गया, सभी लोग भीग गये, केवल वही लड़का अपने छाते के नीचे सूखा खड़ा था!

इसे कहते हैं श्रद्धा। एक छोटे-से लड़के की श्रद्धा से इन्द्रदेव का सिंहासन डोल गया, जबकि लाखों के यज्ञ से कुछ नहीं हुआ, क्योंकि कोई सच्चे भाव से जुड़ा ही नहीं था। यह हमारे जीवन का कड़वा सच है। हम कर्म करते हैं, लेकिन उस कर्म से जुड़ते नहीं। मान्यता है बस, श्रद्धा नहीं। इसलिए हमारे जीवन में श्रद्धा कभी पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं होती। श्रद्धा तो सत्य से साक्षात्कार है। जिस भावना, जिस चिन्तन का आधार सत्य हो, उसी को श्रद्धा कहते हैं। इस श्रद्धा को विवेक के द्वारा बढ़ाया जाता है और विचार के द्वारा इसका संरक्षण किया जाता है।

छठी सम्पत्ति है *समाधान,* सत्य पर, दिव्यता पर, गुरु पर ध्यान। सत्य के साथ सम्बन्ध बनाना समाधान है। इस तरह इन छः गुणों से तीसरा आधार बनता है। ये हमारे जीवन की आंतरिक निधियाँ हैं, गुण हैं, उपलब्धियाँ हैं। ये छः सम्पत्तियाँ अगर तुम्हारी जेब में रहेंगी तो तुम्हें कभी किसी चीज की कमी नहीं होगी, क्योंकि यह सम्पत्ति स्थायी है। इसका जितना खर्चा करते हो, उतनी ही बढ़ती जाती है।

मुमुक्षुत्व

चौथा पहिया है मुमुक्षुत्व, अर्थात् मुक्ति की प्रबल इच्छा, जो व्यक्ति को दत्तचित और दृढ़संकल्प बनाती है। इस इच्छा की प्रबलता ही इसके नैरन्तर्य को सुनिश्चित करती है, इसके स्तर में कमी नहीं आने देती। यह इच्छा जितनी प्रबल होती जाती है, उतनी अधिक प्रेरणा और संकल्प शक्ति तुम्हें प्राप्त होती जाती है। मैं सही मार्ग पर चल रहा हूँ, तुम्हारा यह विश्वास दृढ़ होता जाता है।

आप लोगों ने उस व्यक्ति की कहानी सुनी होगी, जो रामकृष्ण परमहंस से मिलने आया और उन्होंने उसे पानी के अंदर डुबा दिया। आदमी साँस लेने के लिए छटपटाने लगा। तब रामकृष्ण परमहंस ने उस आदमी से कहा कि जैसी छटपटाहट तुम्हें पानी से बाहर निकलने के लिए हुई, वैसी ही छटपटाहट अगर संसार के बंधनों से मुक्त होने के लिए हो जाए, तो तुम तुरंत मुक्त हो सकते हो। उस भाव में तीव्रता का होना आवश्यक है, वह वैचारिक भाव नहीं होना चाहिए। जो वैचारिक भाव रखते हैं, वे दार्शनिक होते हैं। वे चिन्तन-मनन करते हैं, पढ़ते-लिखते हैं, सोचते-समझते हैं, लेकिन उनके भाव खोपड़ी तक ही सीमित रहते हैं। लेकिन जो शिष्य होता है, उसमें स्वयं को मुक्त करने की एक व्याकुलता होती है और उसी तीव्र व्याकुलता को कहते हैं मुमुक्षुत्व।

आध्यात्मिक जीवन के इन आधारों का प्रयोजन इस बात को सुनिश्चित करना है कि तुम्हारी सजगता अपने लक्ष्य पर केन्द्रित रहे और तुम व्यर्थ की अवधारणाओं, आलोचनाओं और अन्य नकारात्मक तत्त्वों से प्रभावित न होओ। यह पाठ कठिन तो है, लेकिन जरूरी भी।

– 'शिष्य धर्म' से संकलित

मेरे गुरु कहीं नहीं गए

मैंने अपने गुरु को खोया, लेकिन आँखों में आँसू नहीं हैं।
कुछ लोग सोचते हैं कि मैं पत्थरदिल हूँ,
उनसे मैं कहती हूँ कि मेरे गुरु कहीं नहीं गए, यहीं मेरे दिल में बसे हैं।
कराल-काल की विशाल बाहों से वे बेशक परे हैं,
लेकिन मेरी छोटी बाहों में आसानी से समा जाते हैं।
लोग सपनों में कभी-कभी अपने गुज़रे सगे-सम्बन्धी देखते हैं
पर मुझे तो अपने गुरु जाग्रत में प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं।
जब संसार से कुछ क्षणों के लिए मैं छिप जाती हूँ,
और सांसारिक अनुभव, पुराने पत्तों की तरह झड़ने लगते हैं,
तब गुरुदेव की अनुभूति और भी गहन हो जाती है।
मैं उन्हें देखती हूँ, हमेशा हँसते-मुस्कुराते
आर्तजनों पर अपनी अहैतुकी कृपा बरसाते।
उनके उस देदीप्यमान् प्रकाश को देखती हूँ,
जो जीवन के सब दु:खों को हरने की क्षमता रखता है।
वे आकर मुझसे कह जाते हैं कि प्रेम ही एकमात्र पंथ है, पथ है,
नान्य: पन्था अयनाय विद्यते – इसके अलावा मुक्ति का कोई मार्ग नहीं।
प्रेम ही देवदूतों की भाषा है, इसी भाषा में मेरे गुरु मुझसे बातें करते हैं,
और मेरी अंतरात्मा को अपनी आभा से आलोकित कर देते हैं।
लौकिक प्रेम भेद पैदा करता है, पर अलौकिक प्रेम दिलों को जोड़ता है
हे गुरुदेव! आप उसी अलौकिक प्रेम और भक्ति की प्रतिमूर्ति हैं
जो हमें अपने आप से और सारी सृष्टि से जोड़ती है।

– स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती, 2010

गुरु-सेवा

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती

गुरु-सेवा का अर्थ प्राय: नि:स्वार्थ भाव से गुरु की सेवा करने से लगाया जाता है। इसका उद्देश्य मन को स्थूल इच्छाओं से मुक्तकर उसे शुद्ध करना है। गुरु-सेवा की यह व्याख्या आध्यात्मिक जीवन में इसकी प्रासंगिकता को कुछ हद तक उजागर करती है, किन्तु यह इसका अपूर्ण अर्थ है। गुरु-सेवा का अन्तर्निहित महत्त्व एवं प्रभाव अत्यंत वैज्ञानिक है। यह आपके शरीर के शक्ति-प्रवाह से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा है।

आंतरिक शक्ति की अभिव्यक्ति

आपके अन्दर शक्ति का एक स्रोत है जो स्वयं को प्रकट करना चाहता है। जब यह शक्ति जाग्रत होकर एक स्वरूप लेती है, तब इसकी तुलना एक बाँध की दीवार के टूटने से की जा सकती है, जिसका सारा जल तीव्र वेग से बहता हुआ समुद्र में जा गिरता है। यदि बहाव का मार्ग साफ है तो जल-प्रवाह की शक्ति से कोई गंभीर नुकसान नहीं होगा। किन्तु यदि उस मार्ग में भवन और कारखाने होंगे तो वे इस दुर्घटना के परिणामस्वरूप निश्चित रूप से विनष्ट हो जायेंगे। इसी प्रकार जब शक्ति स्वयं को प्रकट करने लगे तो स्वयं को द्वन्द्व, तनाव एवं गंभीर क्षति से बचाने के लिये उसे सहजता से एवं शान्तिपूर्वक प्रवाहित होने देना चाहिये। यदि आपकी शक्ति सहजतापूर्वक क्रियाशील होगी तो आप परमानन्द का अनुभव करेंगे, किन्तु यदि वह विरोधात्मक स्थिति में होगी तो आप अपार कष्ट का अनुभव करेंगे।

सर्वप्रथम हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि यह शक्ति किसी भी व्यक्ति में किसी भी समय जाग्रत होकर प्रकट हो सकती है। तथापि यह जागरण एक आकस्मिक प्रक्रिया नहीं है। यह तो धीरे-धीरे एवं अनेक स्तरों से गुजरने वाली प्रक्रिया है। आपके अन्दर जब शक्ति का जागरण होने लगता है तभी आप गुरु की खोज करते हैं या किसी आश्रम में जाते हैं। बीमारी, मानसिक संकट, निराशा, उदासी, वैवाहिक या अन्य सम्बन्धों में विफलता जैसे बाह्य कारण तो सिर्फ बहाना हैं। ये सभी तो आपके अन्दर प्रारम्भ हुई एक आन्तरिक प्रक्रिया की बाह्य अभिव्यक्ति हैं।

जब आप सर्वप्रथम गुरु या किसी आध्यात्मिक पुरुष के सम्पर्क में आते हैं तो इसी प्रकार की घटनाएँ घटती हैं। आपके अन्दर शक्ति का स्वाभाविक एकत्रीकरण, स्थानान्तरण एवं विस्फोट होता है। हो सकता है कि आप इन घटनाओं के प्रति सजग न हों, किन्तु निस्सन्देह ऐसा हो रहा है। गुरु से यह सम्पर्क इतना शक्तिशाली होता है कि ये घटनाएँ सिर्फ उनकी तस्वीर देखने या उनके द्वारा लिखित पुस्तक पढ़ने से ही घटित हो सकती हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनसे आपका व्यक्तिगत सम्पर्क

स्थापित हो। आप अनजाने में ही आत्मिक रूप से स्वप्न या संचार प्रक्रिया द्वारा शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

इस शक्ति का निर्माण एवं अभिव्यक्ति चाहे जैसे भी हो, आप अपने व्यक्तित्व में क्रमिक रूपान्तरण एवं परिवर्तन पायेंगे। इस सम्बन्ध में आश्चर्यजनक बात यह है कि यह रूपान्तरण आपके लिये सदैव श्रेष्ठतर या लाभदायक नहीं होता। अत: आप भयभीत हो जाते हैं। आपके व्यक्तित्व की गहराई में जड़ जमाई हुई जटिलताएँ तथा अपराधभाव प्रकट होने लगते हैं। आपके अन्दर अनेक चीजों के प्रति उन्माद एवं मनोविकार उत्पन्न हो जाता है। ऐसा उन चीजों के प्रति भी हो सकता है जिनसे आप पहले आकर्षित होते थे या जिन्हें पसन्द करते थे। यदि आपने अपने व्यक्तित्व के किसी ऐसे अंश का दमन किया है जिसे आप नापसन्द करते थे तो उसका घृणित स्वरूप निश्चित रूप से पुन: प्रकट होगा।

आपके सचेतन विचारों के अलावा आपके व्यक्तित्व का अन्य आयाम भी है जो अवचेतन एवं अचेतन विचारों से सम्बद्ध है। ये विचार प्राय: अप्रकट रहते हैं। आपको उनके अस्तित्व के बारे में कोई जानकारी ही नहीं होती। किन्तु जब शक्ति जाग्रत होने लगती है तब वे प्रकट होने लगते हैं। यदि वे सुखद नहीं होते तो आपके जीवन में द्वन्द्व और तनाव उत्पन्न करते हैं। आप सचेतन विचारों का सामना तो कर सकते हैं, किन्तु अचेतन विचारों का विस्फोट होने पर असुरक्षा का अनुभव करने लगते हैं, आप उसे व्यवस्थित करने में सक्षम नहीं हो पाते।

आपको यह समझना है कि आपके अन्दर उत्पन्न शक्ति आपके व्यक्तित्व के प्रधान पहलू का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। दमन के कारण आपके व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ लम्बे समय के अन्तराल में अधिकाधिक सशक्त हो जाती हैं। जब आपके अन्दर शक्ति का जागरण होता है तो वह स्वाभाविक रूप से उसी मार्ग की ओर आकृष्ट होती है तथा स्वयं को आपके व्यक्तित्व की उन्हीं विशेषताओं के रूप में प्रकट करती है।

मनुष्य इन्हीं परिस्थितियों में उलझा हुआ है। उसके जीवन में दु:ख-तकलीफ एवं सौंदर्य के अभाव का यही कारण है। सुख एवं सौन्दर्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब यह शक्ति निर्बाध एवं समन्वित होकर एक लय में सहज रूप से प्रवाहित हो। और तब जीवन की हर एक परिस्थिति आनंददायक हो जाती है। तब नौकरी, बच्चे, पति या माता-पिता दु:ख एवं कष्ट का कारण नहीं हो सकते। तब आप पूर्ण संतुलन प्राप्त कर लेते हैं। अन्यथा आप बेचैनी, असन्तोष, आन्तरिक अशान्ति, शारीरिक जर्जरता एवं मानसिक उदासीनता का अनुभव करेंगे। आप अपने वातावरण में घुटन का अनुभव करेंगे। आपकी इच्छा अपनी वर्तमान परिस्थिति से भागकर अन्यत्र आश्रय खोजने की होगी। ऐसी स्थिति में भय एवं चिन्ताएँ बढ़ती हैं तथा आप जीवन का सामना करने में स्वयं को अक्षम पाते हैं। इन्हीं कारणों से विवाह

असफल होते हैं, परिवार बिखरते हैं, हत्याएँ, अपराध और बलात्कार होते हैं, आप निराशा का अनुभव करते हैं एवं हतोत्साह हो जाते हैं।

अत: शक्ति के उत्पन्न होने से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या उसकी दिशा, प्रवाह तथा अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करना है। आप निरन्तर नई शक्तियाँ पैदा कर रहे हैं। जीवन का अर्थ ही है – सतत् जीवनी शक्ति पैदा करने की क्षमता। यह एक विराधोभास ही है। आप निरन्तर शक्ति पैदा करते जा रहे हैं, किन्तु आप यह नहीं जानते कि इसका रचनात्मक उपयोग किस प्रकार किया जाए। जब यह शक्ति उत्पन्न नहीं होती तो आप अस्वस्थता का अनुभव करते हैं। किन्तु जब यह उत्पन्न होने लगती है तब आप पुन: स्वयं को अस्वस्थ अनुभव करते हैं। प्रथम, अस्वस्थता का कारण कमजोरी या शक्ति का अभाव है। द्वितीय, अस्वस्थता का कारण उत्पन्न हुई शक्ति है जो आपके लिये भार बन गई है। आप इसे संतुलित एवं रचनात्मक बनाने में सक्षम नहीं हैं।

अत: अपनी समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान करने के लिये हमें एक पद्धति का पता लगाना होगा जिसके द्वारा इस शक्ति को सन्तुलित, सही मार्गों से प्रवाहित तथा रचनात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया जा सके। इसी सन्दर्भ में हमारे जीवन में गुरु एवं गुरु-सेवा की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

गुरु के साथ सम्बन्ध

जब आप सर्वप्रथम गुरु के सम्पर्क में आते हैं तो आपके शक्ति-चक्र का विघटन तथा पुनर्गठन होता है। हो सकता है कि आप इसके लक्षणों को न पहचान सकें, किन्तु रूपान्तरण प्रारम्भ होने लगता है। जब आप गुरु से मिलते हैं तब आप आनन्द से नृत्य करने लग सकते हैं या आपके अन्दर पूर्णतया नकारात्मक भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं।

गुरु से मिलन विस्फोटक का कार्य करता है। आपके अन्दर जो कुछ भी है, वह तीव्र गति से सतह पर आता है। इस समय आप जो कुछ भी अनुभव करते हैं,

वह आपके चित्त की संरचना का परिणाम है, तथा आपके संस्कारों से सम्बद्ध है। अनेक बार इन संस्कारों से आपका परिचय नहीं होता। अत: गुरु से मिलने पर जो अनुभव होते हैं, उनसे आप आतंकित हो जाते हैं। मैंने अनेक कट्टर एवं कटु स्वभाव वाले व्यक्तियों को गुरु के सामने बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोते देखा है। ऐसे लोग अपनी प्रतिक्रियाओं पर आश्चर्यचकित हो जाते हैं, वे इन्हें समझ नहीं पाते। वास्तव में होता यह है कि जिस जागरण के चलते आप गुरु के पास आये, वह उनके सम्पर्क में आने के बाद नवीन तथा सुदृढ़ बन जाता है। उनकी उपस्थिति शक्ति के जागरण की प्रक्रिया को और अधिक सक्रिय, सुदृढ़ एवं प्रज्वलित करती है। गुरु एक दर्पण का कार्य करते हैं। उस दर्पण में आपका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है तथा अनजाने में ही आप अपने स्वरूप को देखने लगते हैं।

गुरु से इस प्रथम सम्पर्क के साथ ही एक आन्तरिक रूपान्तरण प्रारम्भ हो जाता है। सभी चीजें बदलने लगती हैं तथा अधिकतर लोगों के लिए जीवन पुन: पहले

जैसा नहीं रह जाता। निश्चित रूप से शक्ति का अधिकाधिक जागरण एवं उत्पादन होने लगता है। इस स्थिति के लिये आपको स्वयं को तैयार करना है। इस स्तर पर पहुँचने पर गुरु-सेवा की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण तथा निर्णायक होती है।

जब आप गुरु-आश्रम में रहकर गुरु-सेवा करते हैं तो वास्तव में अपने शरीर में शक्ति के प्रवाह को सन्तुलित कर रहे हैं तथा उसे उन क्षेत्रों की ओर प्रवाहित कर रहे हैं जहाँ उसका सर्वाधिक लाभ मिल सके। गुरु नि:स्वार्थता के प्रतीक होते हैं। उनका लक्ष्य व्यक्ति की चेतना को अधिकाधिक विकसित करना तथा ऊँचा उठाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ही वे हमारे बीच हैं। उनके उद्देश्य की पवित्रता तथा उनकी उपस्थिति के कारण ही हम नि:स्वार्थपूर्ण कार्य करने के लिये तत्पर होते हैं। इसके अतिरिक्त, आश्रम का वातावरण ही नि:स्वार्थ सेवा की नींव पर बना होता है। निहित स्वार्थ से युक्त लोगों के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं होता। वे ऐसे वातावरण में टिक ही नहीं सकेंगे तथा स्वेच्छा से विदा हो जायेंगे।

अत: आप किसी भी समस्या या कठिनाई के कारण जब भी आश्रम आयें, यह आवश्यक है कि आप तन-मन से गुरु-सेवा में संलग्न हो जायें। गुरु-सेवा आपके शरीर में शक्ति के प्रवाह को सन्तुलित करती तथा उसे आपके अन्दर के उच्चतर केन्द्रों की ओर निर्देशित करती है। अन्त में ये केन्द्र सक्रिय होकर कार्य करने लगते हैं तथा आप पाते हैं कि आप अधिक रचनात्मक, अन्तर्दर्शी एवं शान्त या समरूप होने लगे हैं। पहले गड़बड़ी यह थी कि आपकी शक्ति जाग्रत तो हो गई थी, किन्तु आपके व्यक्तित्व के कठोर अवरोधों तथा मानसिक अनुबन्धों के कारण उच्चतर केन्द्रों की ओर इसका प्रवाह अवरुद्ध था। इसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप नकारात्मक था।

तथापि जब आप आश्रम में आते हैं और वहाँ गुरु की सेवा करते हैं या उनके लिये कार्य करते हैं तो आप अनजाने में ही शक्ति का मार्ग साफ कर रहे हैं तथा उसे उच्चतर एवं अधिक शक्तिशाली केन्द्रों की ओर बढ़ने का अवसर दे रहे हैं। आश्रम में रहते हुए जब आप कठोर परिश्रम करते हैं तब अपने अन्दर पूर्ण परिवर्तन पाते हैं। आप बेहतर अनुभव करते हैं, आपकी सोच अधिक स्पष्ट और सही हो जाती है। वास्तव में आप एक बार पुन: जीवन को उचित रूप से देख सकते हैं। तदुपरान्त जब आप घर वापस लौटते हैं तो स्वयं को आसानी से एक बार पुन: अपने वातावरण के अनुकूल बनाने में सक्षम होते हैं। अब आप ऐसी अनेक चीजों के बारे में सजग होते हैं जिन्हें आप पहले नहीं समझ पाये थे।

अनासक्त कर्म

गुरु-सेवा के पीछे नि:स्वार्थ कर्म का सिद्धान्त है। यह कर्म आसक्ति तथा लाभ की भावना से रहित होकर किया जाता है। इसका अभ्यास आपकी शक्ति को सन्तुलित

करने में इतना प्रभावकारी क्यों है? उत्तर स्पष्ट है। नि:स्वार्थ प्रयोजन के कारण आपका अहंकार बीच में नहीं आता तथा आप अपने द्वन्द्वों तथा तनावों से प्रत्यक्ष मुकाबला किये बगैर उपमार्ग से होकर निकल जाने में सफल होते हैं। वे अभी भी मौजूद हो सकते हैं, किन्तु अब वे आपको प्रभावित नहीं करते, क्योंकि आपकी शक्ति अन्य दिशाओं में मुड़ गई है।

गुरु-सेवा का अभ्यास आश्रम में ही किया जा सकता है, अपने घर पर नहीं। जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, आश्रम का वातावरण उच्चतर सजगता के विकास में सहायक होता है और इस प्रकार आपकी शक्ति को अवरोध-रहित होकर प्रवाहित होने का अवसर मिलता है। यदि आप घर के वातावरण में रहते हैं तो पाते हैं कि शक्ति को सन्तुलित करना एक अत्यधिक कठिन कार्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप जहाँ रहते हैं वहाँ की परिस्थिति बुरी या विकृत है। बात सिर्फ इतनी है कि वहाँ के वातावरण में आप विशेष परिस्थितियों का सामना करने में सक्षम नहीं हो पाते। कोई भी परिस्थिति या घटना एक नकारात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है। जिन लोगों को आप निकट से जानते हैं, उनके प्रति घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, एवं अन्य नकारात्मक भावों से आप शायद ही ऊपर उठ पाते हैं। किन्तु आश्रम की परिस्थिति बिल्कुल भिन्न होती है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्ति को विकसित करने में लगा है। वहाँ के वातावरण में कर्मयोग की भावना व्याप्त रहती है तथा आप भी उससे प्रेरित होते हैं। इसके अतिरिक्त, इतने सारे आध्यात्मिक प्रवृत्ति के लोगों से उत्पन्न सकारात्मक तरंगें भी आपकी शक्ति को सन्तुलित करने में सहायक होती हैं।

धीरे-धीरे अन्त में गुरु-सेवा के प्रति यह भाव आपके व्यक्तित्व का, आपकी प्रकृति का अंग बन जाता है तथा इस हेतु आपको तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ता। आप जीवन की सभी परिस्थितियों का मुकाबला सहजता एवं धैर्य से करते हैं। जीवन के उतार-चढ़ाव आपको पराजित नहीं कर पाते। आप उन्हें आसानी से निपटा सकते हैं। तदुपरान्त आप अपने घर वापस जा सकते हैं तथा माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र या पुत्री की भूमिका निभा सकते हैं।

शक्ति के जागरण को सही एवं सुव्यवस्थित रूप से संभालना होता है। अति संवेदनशील, भावनात्मक या नकारात्मक होने का कोई कारण नहीं है। उस समय आपके लिये आश्रम आवास, सरल जीवन, उचित आहार, कर्मयोग तथा गुरु की सकारात्मक शक्ति का अत्यधिक महत्त्व होता है। मात्र इसी चिकित्सा द्वारा आप पुन: अपने पैर पर खड़े हो सकते हैं। चिकित्सक, मनोचिकित्सक या दवाई की गोलियाँ आपकी सहायता नहीं कर सकतीं। एक महीना या उससे अधिक समय तक आश्रम में रहकर गुरु-सेवा करने से आपका बहुत कल्याण हो सकता है।

– 'गुरु शिष्य सम्बन्ध' से उद्धृत

गुरु-तत्त्व-दर्शन

स्वामी धर्मशक्ति सरस्वती

जीवन का कोई भी कार्य बिना मार्गदर्शक या गुरु के सुचारु रूप से नहीं हो सकता। बालपन में माँ ही गुरु का कार्य करती है। बालक जैसे-जैसे बड़ा होता है, उसे दूसरों के मार्गदर्शन में चलना पड़ता है। छोटे-से-छोटे कारीगर से लेकर बड़े-से-बड़े इन्जीनियरों के भी गुरु होते हैं जिनके मार्गदर्शन में वे उस सीमा तक पहुँचते हैं।

प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक के सभी शास्त्रों ने गुरु की महिमा और गुरु-शरणागति को स्वीकारा है। गुरु तत्त्व का विषय बड़ा गहन है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी 'गुरु' के गुण गाये हैं। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, पालनहार भगवान विष्णु और संहारक शंकर भगवान भी गुरु के ध्यान में आनन्द मग्न रहते हैं। संत कबीरदास गुरु को ईश्वर से अधिक महान् मानते हैं और उनकी चरण-वंदना को प्राथमिकता देते हुए कहते हैं –

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागू पाय ।
बलिहारी गुरु आपनो, जिन गोविन्द दियो मिलाय ॥

तीनों लोकों में गुरु ही गति है। वही शिव और शक्ति है, वही देवी और देवता है। जीवनमुक्त होने पर भी गुरु ही सद्गति है। उसके वचन वेद तुल्य हैं। उसका स्थान कैलाश है। उसका प्रत्येक कार्य पवित्र और पुण्यमय होता है। गुरु-गृह चिंतामणि है जिसकी प्रदक्षिणा सप्तदीपा पृथ्वी की प्रदक्षिणा तुल्य है। प्रात:काल श्रद्धायुक्त गुरु को प्रणाम करने वाला व्यक्ति या गुरु के निवास-दिशा की ओर मुख करके प्रणाम करने वाला व्यक्ति इहलोक और परलोक में सिद्ध होता है।

पुराणों में पढ़ा, देखा एवं सुना गया है कि साधकों को उनकी प्रकृति के अनुसार ही गुरु-प्राप्ति होती है। उन्हीं से वे दीक्षित होते हैं। दीक्षा के कई रूप हैं, जैसे स्थूल दीक्षा, सूक्ष्म गुरु दीक्षा एवं कारण और महाकारण की दीक्षा। उच्च श्रेणी की दीक्षा साक्षात् निरंजन ही परमहंस गुरु के रूप में आकर देते हैं। ऐसा गुरु वह ज्योति है जो हमारे अज्ञानरूपी तम का नाश करती है। उस प्रकाश में मानव-जीवन का प्रत्येक क्षण दिव्य बन जाता है।

अनेक व्यक्तियों को उनकी पुण्य तपस्या से यदा-कदा स्वप्न में शिवलिंग या शिवमंदिर के दर्शन होते हैं। स्पष्ट है कि स्वप्न-द्रष्टा आध्यात्मिक पथ के राही हैं एवं उन्हें गुरु की आवश्यकता है। उन्हें सद्गुरु की खोज करनी चाहिये। ईश-कृपा हो तो गुरु-आगमन की सूचना-प्रेरणा दिव्य अनुभूतियों द्वारा मिलती है। साधक की योग्यतानुसार गुरु-प्राप्ति होती है। गुरुदेव स्वयं उस पर कृपा दृष्टि रखते हैं।

सिद्ध और अदृश्य ऋषिगण अदृश्य भाव से जिज्ञासुओं की सहायता उनकी योग्यता के अनुसार करते हैं। समय आने पर प्रत्यक्ष दर्शन देकर योग-दीक्षा देते हैं। योग्य साधकों का चुनाव कर भावी कल्याण कार्य के लिये तैयार भी करते हैं।

भारतवर्ष की विशेष आध्यात्मिक परम्परा है। अन्य देश भी आज गुरु-तत्त्व का महत्त्व स्वीकारने लगे हैं। साधना हेतु गुरु परम्परा एवं गुरुकुलों का विशेष महत्त्व है। गुरु बिना ज्ञान नहीं होता।

'गुरु' शब्दोच्चारण करते समय हमारे सामने 'गौर वर्ण तेजस्वी तपोपूत मंत्र-तंत्र सिद्ध परमहंस स्वामी सत्यानन्द सरस्वती' की दिव्य मूर्ति उभर आती है। वे दिव्य एवं सरल भी हैं। आज के संघर्षमय जीवन में व्यथित मानव को जैसे पथ प्रदर्शक गुरु की आवश्यकता है, हमारे स्वामीजी वैसे ही हैं। वे यथार्थ में गुरु होने के योग्य हैं। वे स्वामी के समान रक्षा कर सकते हैं। मनुष्य के दोषों को शुद्ध कर, उनके गुणों को उभारने का सामर्थ्य उनमें है।

परमहंस स्वामी सत्यानन्द जी जगद्गुरु शंकराचार्य की भाँति महान् ज्ञानी और त्यागी हैं, वे जीवन-साधना के साकार प्रतीक हैं। वे अद्वैतवाद के अभिनव भास्कर हैं। वे सदैव सत्कार्य में संलग्न रहते हैं। उन्हें हमेशा अपने गुरु स्वामी शिवानन्द जी के ज्ञान-यज्ञ की सुधि रहती है। अपना एवं शिष्यों का कार्य स्वयं करते हैं, यही शिक्षा शिष्यों को भी देते हैं। हमेशा मानव-कल्याण की बात सोचते हैं और उस पर शोध भी करते हैं। समय-समय पर देवशक्तियाँ इनका मार्गदर्शन एवं सहायता करती हैं। जीवन बालकों-सा सरल है तभी लोगों ने इन्हें *'मैजिक चाइल्ड'* की उपाधि दी है। जीवन में आराम का नाम नहीं। सम्मेलन-शिविर में प्रात: 4 बजे से 12 बजे रात तक लोगों के दु:ख-दर्द सुनते एवं उनकी उलझनों को सुलझाते हैं। हजारों व्यक्ति उन्हें गुरु मानकर नतमस्तक होते हैं। आस्तिक हो या नास्तिक, गुरुतत्त्व के समक्ष सिर झुकाने में ही सद्गति है।

– मूलत: योगविद्या के अगस्त 1972 अंक में प्रकाशित

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट

गुरु शिष्य सम्बन्ध

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती

पृष्ठ 292, ISBN: 978-81-85787-98-5

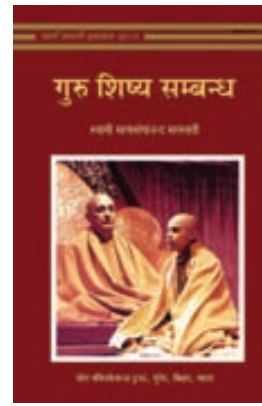

उपलब्ध

'अनेक लोग तर्क करते हैं कि गुरु आवश्यक नहीं, क्योंकि वास्तविक गुरु तो हमारे अन्दर हैं। यह सच है, पर कितने लोग उनके निर्देशों को सुनने और समझने का दावा कर सकते हैं। आप चाहे जैसे हों, गुरु आपके जीवन की जरूरत हैं।'

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती द्वारा रचित यह पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में गुरु को कैसे पहचानें, गुरुओं के प्रकार, शिष्यों के प्रकार, दीक्षा आदि विषयों का समावेश किया गया है। द्वितीय खण्ड में श्री स्वामी सत्यानन्द जी के चयनित सत्संगों का संकलन है। यह पुस्तक साधकों की गुरु सम्बन्धी सभी मुख्य जिज्ञासाओं का समाधान करेगी एवं उनके लिए प्रेरणास्रोत का कार्य करेगी।

पुस्तकों की मूल्य सूची एवं क्रयादेश प्रपत्र प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें–

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, गंगा दर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201

दूरभाष : 91-6344-222430, 6344-228603, 09304799615 फैक्स : 91-6344-220169

कृपया जवाब के लिए अपना पता लिखा, डाकटिकट लगा लिफाफा भेजें, जिसके बिना आपके आवेदन पर विचार नहीं किया जाएगा।

सत्यानन्द योग वेबसाइट

www.biharyoga.net

यह बिहार योग पद्धति की मुख्य वेबसाइट है जिसमें बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, शिवानन्द मठ, सीता कल्याणम् महोत्सव तथा योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की जानकारियाँ उपलब्ध हैं।

www.rikhiapeeth.net

इस वेबसाइट पर प्रतिदिन श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती का विभिन्न आध्यात्मिक विषयों पर एक नया सत्संग उपलब्ध रहता है।

'यौगिक जीवन' स्वामी निरंजन के संग

www.biharyoga.net/living-yoga/ पर श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के उत्तराधिकारी स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के मिशन सम्बन्धी लेख, संदेश एवं समाचार उपलब्ध हैं।

www.yogamag.net

योगा पत्रिका के लेखों के संग्रह तथा पूरे विश्व में सत्यानन्द योग केन्द्रों और शिक्षकों के सम्पर्क सूत्रों और गतिविधियों की जानकारी के लिए इस वेबसाइट को देखें।

आवाहन वेबसाइट

www.biharyoga.net/sannyasa-peeth/avahan/ पर संन्यास पीठ की द्वैमासिक पत्रिका, *सत्य का आवाहन* उपलब्ध है, जिसमें श्री स्वामी शिवानन्द, श्री स्वामी सत्यानन्द एवं स्वामी निरंजनानन्द की शिक्षाओं तथा संन्यास पीठ की गतिविधियों की जानकारी है।

- Registered with the Department of Post, India Under No. HR/FBD/298/13–15
- Registered with the Registrar of Newspapers, India Under No. BIHHIN/2002/6306

issn 0972-5725

गंगादर्शन के सत्र एवं कार्यक्रम 2013

जुलाई 18–21	गुरु पूर्णिमा आराधना
जुलाई 22	गुरु पादुका पूजन
सितम्बर 8	शिवानन्द जन्मोत्सव
सितम्बर 12	स्वामी सत्यानन्द संन्यास दिवस
अक्टूबर 23–27	स्वर्ण जयन्ती विश्व योग सम्मेलन
प्रत्येक शनिवार	महामृत्युंजय हवन
प्रत्येक एकादशी	भगवद् गीता पाठ
प्रत्येक पूर्णिमा	सुन्दरकाण्ड पाठ
प्रत्येक माह के 5 वें और 6 वें दिवस	श्री स्वामी सत्यानन्द जी की महासमाधि का स्मरणोत्सव
प्रत्येक माह के 12 वें दिवस	अखण्ड रामचरितमानस पाठ

महत्त्वपूर्ण सूचना

बिहार योग विद्यालय की आगामी स्वर्ण जयन्ती एवं 23 से 27 अक्टूबर, 2013 तक आयोजित विश्व योग सम्मेलन के कारण गंगा दर्शन, मुंगेर में संचालित अधिकांश सत्र वर्ष 2013 में स्थगित रहेंगे। निम्नलिखित सत्र का संचालन रिखियापीठ में किया जाएगा –

अगस्त 1 – 15 योग स्वास्थ्य रक्षा सत्र – मधुमेह (हिन्दी)

उपर्युक्त सत्र के सन्दर्भ में अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें –

रिखियापीठ, पोस्ट-रिखिया, जिला-देवघर, झारखण्ड, भारत, 814113
फोन नम्बर : 06432-290870 / 09304-488889 / 09204-080006
ई-मेल : rikhiapeeth@gmail.com वेबसाइट : www.rikhiapeeth.net

उपर्युक्त सत्रों/ कार्यक्रमों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए सम्पर्क करें –

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, मुंगेर, बिहार 811201
फोन : 06344-222430, 06344-228603, 9304799615 फैक्स : 06344-220169
वेबसाइट : www.biharyoga.net

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु अपना पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।